

ॐ

महाबंध [संक्षिप्त विषय-निर्देश]

सि. आ. पं. श्री. फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री, वाराणसी

१ षट्खण्डागम का मूल आधार और विषयनिर्देश

चौदह पूर्वों में अग्रायणीय पूर्व दूसरा है। इसके चौदह अर्थाधिकार हैं। पांचवा अर्थाधिकार चयनलब्धि है, वेदनाकृत्स्नप्राभूत यह दूसरा नाम है। इसके चौबीस अर्थाधिकार हैं। जिनमें से प्रारम्भ के छह अर्थाधिकारों के नाम हैं—कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन। इन्हीं छह अर्थाधिकारों को प्रकृत षट्खण्डागम सिद्धान्त में निबद्ध किया गया है। मात्र दो अपवाद हैं—एक तो जीवस्थान चूलिका की सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक आठवीं चूलिका दृष्टिवाद अंग के दूसरे सूत्र नामक अर्थाधिकार से निकली है। दूसरे गति-आगति नामक नौवीं चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति से निकली है।

यह षट्खण्डागम सिद्धान्त को प्रातःस्मरणीय आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि ने किस आधार से निबद्ध किया था इसका सामान्य अवलोकन है। प्रत्येक खण्ड का अन्तः स्पर्श करने पर विहित होता है कि परमागम में बन्धन अर्थाधिकार के बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध विधान नामक जिन चार अर्थाधिकारों का निर्देश किया गया है उनमें से बन्ध नामक अर्थाधिकार से प्रारम्भ की सात चूलिकाएं निबद्ध की गई हैं। इन सब चूलिकाओं में प्रकृत में उपयोगी होने से कर्मों की मूल व उत्तर प्रकृतियों को उस उस कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बन्ध व अधिकारी भेद से बननेवाले स्थानों को, कर्मों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थितियों को तथा गति भेद से प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के सन्मुख हुए जीवों के बंधनेवाली प्रकृतियों-सम्बन्धी तीन महाखण्डों को निबद्ध किया गया है।

षट्खण्डागम का दूसरा खण्ड क्षुल्लक बन्ध है। इसमें सब जीवों में कौन जीव बन्धक है और कौन जीव अबन्धक है इसका सुस्पष्ट खुलासा करना प्रयोजन होने से बन्धक नामक दूसरे अर्थाधिकार को निबद्ध कर जो जीव बन्धक हैं वे क्यों बन्धक हैं और जो जीव अबन्धक हैं वे क्यों अबन्धक हैं इसे स्पष्ट करने के लिये चौदह मार्गणाओं के अवान्तर भेदोंसहित सब जीव कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से यथा सम्भव बद्ध और अबद्ध होते हैं इसे निबद्ध किया गया है। आगे छठवें खण्ड में बन्धन के चारों अर्थाधिकारों को निबद्ध करना प्रयोजन होने से इस खण्ड को क्षुल्लक बन्ध कहा गया है। इस खण्ड में उक्त दो अनुयोगद्वारों को छोड़कर अन्य जितने भी अनुयोगद्वार निबद्ध किये गये हैं, प्रकृत में उनका स्पष्टीकरण करना प्रयोजनीय नहीं होने से उनके विषय में कुछ भी नहीं लिखा जा रहा है।

षट्खण्डागम का तीसरा खण्ड बन्ध स्वामित्वविचय है। यद्यपि क्षुल्लक बन्ध में सब जीवों में से कौन जीव बन्धक है और कौन जीव अबन्धक है इसे स्पष्ट किया गया है पर वहाँ अधिकारी भेदसे बन्ध को प्राप्त होने वाली प्रकृतियों का नाम निर्देश नहीं किया गया है और न यही बतलाया गया है कि उक्त जीव किस गुणस्थान तक किन प्रकृतियों का बन्ध करते हैं और उसके बाद वे उन प्रकृतियों के अबन्धक होते हैं यह सब ओघ और आदेश से सप्रयोजन स्पष्ट करने के लिए इस खण्ड को निबद्ध किया गया है।

षट्खण्डागम का चौथा खण्ड वेदना है और पाँचवें खण्ड का नाम वर्गणा है। इन दोनों खण्डों में से प्रथम खण्ड में कर्म प्रकृति प्राभूत के कृति और वेदना अर्थाधिकारों को तथा दूसरे खण्ड में स्पर्श, कर्म और प्रकृति अर्थाधिकारों के साथ बन्धन अर्थाधिकार के बन्धनीय अर्थाधिकार को निबद्ध किया गया है।

इस प्रकार उक्त पाँच खण्डों में निबद्ध विषय का सामान्य अवलोकन करने पर विदित होता है कि उक्त पाँचों खण्डों में कर्म विषयक सामग्रीका भी यथासंभव अन्य सामग्री के साथ यथास्थान निबद्धीकरण हुआ है। फिर भी बन्धन अर्थाधिकार के बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों अर्थाधिकारों को समग्र भाव से निबद्धीकरण नहीं हो सका है अतः इन चारों अर्थाधिकारों को अपने अवान्तर भेदों के साथ निबद्ध करने के लिए छठवे खण्ड महाबन्ध को निबद्ध किया गया है।

वर्तमान में जिस प्रकार प्रारम्भ के पाँच खण्डोंपर आचार्य वीरसेन की धवला नामक टीका उपलब्ध होती है उस प्रकार महाबन्ध पर कोई टीका उपलब्ध नहीं होती। इसका परिमाण अनुष्टुप् श्लोकों में चालीस हजार श्लोक प्रमाण स्वीकार किया गया है। आचार्य वीरसेन के निर्देशानुसार यह आचार्य भूतबली की अमर कृती है यद्यपि इसका मूल आधार बन्धन नामक अर्थाधिकार है, परन्तु उसके आधार से आचार्य भूतबली ने इसे निबद्ध किया है, इसीलिए यहाँ उसे उनकी अमर कृति कहा गया है।

२ महाबन्ध इस नामकरण की सार्थकता

यह हम पहले ही बतला आये हैं कि षट्खण्डागम सिद्धान्त में दूसरे खण्ड का नाम क्षुल्लक बन्ध है और तीसरे खण्ड का नाम बन्ध स्वामित्व विचय है। किन्तु उनमें बन्धन अर्थाधिकार के चारों अर्थाधिकारों में से मात्र बन्धक अर्थाधिकार के आधार से विषय को सप्रयोजन निबद्ध किया गया है। तथा वर्गणाखण्ड में वर्गणाओं के तेईस भेदों का सांगोपांग विवेचन करते हुए उनमें से प्रसंगवश ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य कार्माण वर्गणाएँ हैं यह बतलाया गया है। वहाँ बन्ध तत्त्व के आश्रय से बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों को एक शृंखला में बाँधकर निबद्ध नहीं किया गया है जिसकी पूर्ति इस खण्ड द्वारा की गई है, अतः इसका महाबन्ध यह नाम सार्थक है।

३ निबद्धीकरण सम्बन्धी शैली का विचार

किसी विषय का विवेचन करने के लिए तत्सम्बन्धी विवेचन के अनुसार उसे अनेक प्रमुख अधिकारों में विभक्त किया जाता है। पुनः अवान्तर प्रकरणों द्वारा उसका सर्वांग विवेचन किया जाता है।

प्रकृत में भी इसी पद्धति से बन्ध तत्त्व को प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध इन चार प्रमुख अधिकारों में विभक्त कर उनमें से प्रत्येक का ओघ और आदेश से अनेक अनुयोग द्वारों का आलम्बन लेकर विचार किया गया है। इससे बन्ध तत्त्व सम्बन्धी समग्र मीमांसा को निबद्ध करने में सुगमता आ गई है। समग्र षट्खण्डागम इसी शैली में निबद्ध किया गया है अतः महाबन्ध को निबद्ध करने में भी यही शैली अपनाई गई है। ऐसा करते हुए मूल में कहीं भी किसी पारिभाषिक शब्द की व्याख्या नहीं की गई है। मात्र प्रकरणानुसार उसका उपयोग किया गया है। किन्तु एक पारिभाषिक शब्द एक स्थल पर जिस अर्थ से प्रयुक्त हुआ है, सर्वत्र उसे उसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

४ कर्म शब्द के अर्थ की व्याख्या

कर्म शब्द का अर्थ कार्य है। प्रत्येक द्रव्य, उत्पाद, व्यय और ध्रुव स्वभाव वाला होने से अपने ध्रुवस्वभाव का त्याग किये बिना प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय का व्यय होकर जो पर्याय रूप से नया उत्पाद होता है वह उस द्रव्य का कर्म कहलाता है। यह व्यवस्था अन्य द्रव्यों के समान जीव और पुद्गल द्रव्य में भी घटित होती है। किन्तु यहाँ जीव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में से क्रम से यथा सम्भव पांच, चार, तीन, दो या एक को निमित्त कर कर्मणवर्गणाओं का जो ज्ञानावरणादिरूप परिणामन होता है उसे 'कर्म' कहा गया है। ज्ञानावरणादि रूप से स्वयं कर्मणवर्गणाएँ परिणामी, इसलिए नोआगम भाव की अपेक्षा तो वह कर्मरूप परिणाम स्वयं पुद्गल का है। किन्तु उन कर्मणवर्गणाओं के परिणामन में जीव के मिथ्यात्व आदि भाव निमित्त होते हैं, इसलिए निमित्त होने की अपेक्षा उसे उपचार से जीव का भी कर्म कहा जाता है। इस प्रकार इन ज्ञानावरणादि कर्मों को जीव का कहना यह नोआगम द्रव्य-निक्षेप का विषय है, नोआगम भाव निक्षेप का विषय नहीं, इसलिए आगम में इसे द्रव्य कर्मरूप से स्वीकार किया गया है। काल-प्रत्यासत्ति या बाह्यव्याप्ति वश विवक्षित दो द्रव्यों में एकता स्थापित कर जब एक द्रव्य के कार्य को दूसरे द्रव्य का कहा जाता है तभी नोगमनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल परिणाम को जीव का कार्य कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं; यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इस प्रकार प्रकृत में उपयोगी कुछ तथ्यों का निर्देश करने के बाद अब महाबन्ध परमागम में निबद्ध विषय पर सांगोपांग विचार करते हैं।

५. महाबन्ध परमागम में निबद्ध विषय

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों विषयोंको ध्यान में रखकर महाबन्ध में बन्ध तत्त्वको निबद्ध किया गया है। यह प्रत्येक द्रव्यगत स्वभाव है कि प्रत्येक द्रव्यके कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता होती है। यतः ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला जीव स्वतंत्र द्रव्य है और प्रत्येक जीव द्रव्य पृथक् पृथक् सत्ता-सम्पन्न होने से सब जीव अनन्त हैं तथा पर्याय दृष्टि से वे संसारी और मुक्त ऐसे दो भागोंमें विभक्त हैं। जो चतुर्गति के परिभ्रमण से छुटकारा पा गये हैं उन्हें मुक्त कहते हैं। किन्तु जो चतुर्गति परिभ्रमण से मुक्त नहीं हुए हैं उन्हें संसारी कहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि जीवोंकी ये दो प्रकारकी अवस्थाएँ कैसे होती हैं ? यद्यपि इस प्रश्नका समाधान पूर्वोक्त इस कथन से हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्यके कार्यों में बाह्य और अन्तरंग उपाधिको समप्रता होती है । फिर भी यहाँ उस बाह्य सामग्री की सांगोपांग मीमांसा करनी है, आभ्यन्तर उपाधि के साथ जिसकी प्राप्ति होनेपर जीवों की संसार (चतुर्गति परिभ्रमणरूप) अवस्था नियमसे होती है । भगवान् भूतबली ने इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप महाबन्ध परमागमको निबद्ध किया है । इसमें जीव सम्बद्ध उस बाह्य सामग्रीकी कर्म संज्ञा रख कर और उसे व्यवहारनय (नैगमनय) से जीवका कार्य स्वीकार कर बतलाया गया है कि वे कर्म कितने प्रकार के हैं उनकी प्रकृति, स्थिति और अनुभाग क्या है । संख्यामें वे प्रदेशों की अपेक्षा कितने होते हैं । बन्धकी अपेक्षा ओघ और आदेश से कौन जीव किन कर्मोंका बन्ध करते हैं । वे सब कर्म मूल और अवान्तर भेदों की अपेक्षा कितने प्रकारके हैं । क्या सभी पुद्गलकर्मभाव को प्राप्त होते हैं या नियत पुद्गल ही कर्म भाव को प्राप्त होते हैं । उनका अवस्थान काल और क्षेत्र आदि कितना है आदि प्रकृत विषय सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान विधि रूपसे महाबन्ध परमागम द्वारा किया गया है । इसमें सब कर्मों के प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ऐसे चार भेद करके उक्त विधि से बन्ध तत्त्व को अपेक्षा सब कर्मों का विचार किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए ।

१. प्रकृति बन्ध

प्रकृति बन्ध यह पद प्रकृति और बन्ध इन दो शब्दों से मिलकर बना है । प्रकृति, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची शब्द हैं । इससे ज्ञात होता है कि जीव के मिथ्या दर्शन आदि को निमित्त कर जो कर्मण वर्गणाएँ कर्म भाव को प्राप्त होती हैं उनकी मूल प्रकृति जीव की विविध नर-नारकादि अवस्थाओं के होने में तथा मिथ्या दर्शनादि भावों के होने में निमित्त होती हैं । अर्थात् जब जीव अपनी पुरुषार्थ हीनता के कारण आभ्यन्तर उपाधिवश जिस अवस्था को प्राप्त होता है उसकी उस अवस्था के होने में ये ज्ञानावरणादि कर्म निमित्त (व्यवहार हेतु) होते हैं यह उनकी प्रकृति है ।

किन्तु कर्मण वर्गणाओं के, जीव के मिथ्यादर्शन आदि के निमित्त से कर्म भाव को प्राप्त होने पर } वे कर्म जीव से सम्बद्ध होकर रहते हैं या असम्बद्ध होकर रहते हैं इसी के उत्तर स्वरूप यहां बन्ध-तत्त्व को स्वीकार किया गया है । परमागम में बन्ध दो प्रकार का बतलाया है—एक तादात्म्य सम्बन्ध रूप और दूसरा संयोग सम्बन्ध रूप । इनमें से प्रकृत में तादात्म्य सम्बन्ध विवक्षित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का अपने गुण पर्याय के साथ ही तादात्म्यरूप बन्ध होता है, दो द्रव्यों या उनके गुण-पर्यायों के मध्य नहीं । संयोग सम्बन्ध अनेक प्रकार का होता है सो उसमें भी दो या दो से अधिक परमाणुओं आदि में जैसा श्लेष बन्ध होता है वह भी यहाँ विवक्षित नहीं है, क्यों कि पुद्गल स्पर्शवान द्रव्य होने पर भी जीव स्पर्शादि गुणों से रहित अमूर्त द्रव्य है, अतः जीव और पुद्गल का श्लेष बन्ध बन नहीं सकता । स्वर्ण का कीचड़ के मध्य रह कर दोनों का जैसा संयोग सम्बन्ध होता है ऐसा भी यहां जीव और कर्म का संयोग सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि स्वर्ण के कीचड़ के मध्य होते हुए भी स्वर्ण कीचड़ से अलिप्त रहता है,

क्यों कि कीचड़ के निमित्त से स्वर्ण में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता। मात्र परस्पर अवगाह रूप संयोगसम्बन्ध भी जीव और कर्म का नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि जीव प्रदेशों का विस्त्रसोपचयों के साथ परस्पर अवगाह होने पर भी विस्त्रसोपचयों के निमित्त से जीव में नरकादि रूप व्यञ्जन पर्याय और मिथ्यादर्शनादि भाव रूप किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता। तब यहाँ किस प्रकार का बन्ध स्वीकार किया गया है ऐसा प्रश्न होने पर उसका समाधान यह है कि जीव के मिथ्यादर्शनादि भावों को निमित्त कर जीव प्रदेशों में अवगाहन कर स्थित विस्त्रसोपचयों के कर्म भाव को प्राप्त होने पर उनका और जीव प्रदेशों का परस्पर अवगाहन कर अवस्थित होना यही जीव का कर्म के साथ बन्ध है। ऐसा बन्ध ही प्रकृत में विवक्षित है। इस प्रकार जीव का कर्म के साथ बन्ध होने पर उसकी प्रकृति के अनुसार उस बन्ध को प्रकृति बन्ध कहते हैं। इसी प्रकृति बन्ध को ओघ और आदेश से महाबन्ध के प्रथम अर्थाधिकार में विविध अनुयोग द्वारों का आलम्बन लेकर निबद्ध किया गया है।

वे अनुयोग द्वार इस प्रकार हैं—(१) प्रकृति समुत्कीर्तन (२) सर्वबन्ध (३) नोसर्वबन्ध (४) उत्कृष्टबन्ध (५) अनुत्कृष्टबन्ध (६) जघन्यबन्ध (७) अजघन्यबन्ध (८) सादिबन्ध (९) अनादिबन्ध (१०) ध्रुवबन्ध (११) अध्रुवबन्ध (१२) बन्धस्वामित्वविचय (१३) एक जीव की अपेक्षा काल (१४) एक जीव की अपेक्षा अन्तर (१५) सन्निकर्ष (१६) भंगविचय (१७) भागाभागानुगम (१८) परिमाणानुगम (१९) क्षेत्रानुगम (२०) स्पर्शानुगम (२१) नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम (२२) नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम (२३) भावानुगम (२४) जीव अल्पबहुत्वानुगम और (२५) अद्वा-अल्प बहुत्वानुगम।

१. प्रकृति समुत्कीर्तन

प्रथम अनुयोग द्वार प्रकृति समुत्कीर्तन है। इस में कर्मों की आठों मूल और उत्तर प्रकृतियों का निर्देश किया गया है। किन्तु महाबन्ध के प्रथम ताडपत्र के त्रुटित हो जाने से महाबन्धका प्रारम्भ किस प्रकार हुआ है इसका ठीक ज्ञान नहीं हो पाता है। इतना अवश्य है कि इस अनुयोग द्वारका अवशिष्ट जो भाग मुद्रित है उसके अवलोकन से ऐसा सुनिश्चित प्रतीत होता है कि वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोग द्वार में ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियों का जिस विधि से निरूपण उपलब्ध होता है, महाबन्ध में भी ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियों के निरूपण में कुछ पाठ भेद के साथ लगभग वही पद्धति अपनाई गई है। प्रकृति अनुयोग द्वार के ५९ वें सूत्रका अन्तिम भाग इस प्रकार है—

संवच्छर-जुग-पुव्व-पव्व-पलिदोवम-सागरोव मादओ विधओ भवन्ति ॥ ५९ ॥

इस के स्थान में महाबन्ध में इस स्थलपर पाठ है—

अयणं संवच्छर-पलिदोवम-सागरोव मादओ भवन्ति ।

इसी प्रकार प्रकृति अनुयोग द्वार के अवधिज्ञान सम्बन्धी जो सूत्र गाथाएं निबद्ध हैं वे सब यद्यपि महाबन्ध के प्रकृति समुत्कीर्तन में भी निबद्ध हैं, पर उन में पाठ भेद के साथ व्यतिक्रम भी देखा जाता है। उदाहरणार्थ प्रकृति अनुयोग द्वार में 'काले चउण्ण उड्ढी' यह सूत्र गाया पहले है और 'तेजाकम्म सरिं'

यह सूत्र गाथा बाद में । किन्तु महाबन्ध में 'तेजाकम्म सरिरं' सूत्र गाथा पहले है और 'काले चटुण्हं वुड्ढी' यह सूत्र गाथा बाद में । इसी प्रकार कतिपय अन्य सूत्र गाथाओं में भी व्यतिक्रम पाया जाता है ।

आगे दर्शनावरण से लेकर अन्तरायतक शेष सात कर्मों की किस की कितनी प्रकृतियाँ है मात्र इतना उल्लेख कर प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोग द्वार समाप्त किया गया है । इतना अवश्य है कि नाम कर्म की बन्ध प्रकृतियों की ४२ संख्या का उल्लेख कर उसके बाद यह वचन आया है ।

‘यं तं गदिणामं कम्मं तं चटु विधं णिरयगदियाव देवगहिति । यथा पगदि मंगो तथा कादव्वो ।’ इसमें आये हुए 'पगदि मंगो कादव्वो' पद से विदित होता है कि सम्भव है इस पदद्वारा वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार के अनुसार जानने की सूचना की गई है ।

समस्त कर्म विषयक वाङ्मय में ज्ञानावरणादि कर्मों का जो पाठ विषयक क्रम स्वीकार किया गया है उसके अनुसार ज्ञान की प्रधानता को लक्ष्य में रखकर ज्ञानावरण कर्म को सर्वप्रथम रखकर तदनन्तर दर्शनावरण कर्म को रखा है—यतः दर्शनपूर्वक तत्त्वार्थों का ज्ञान होनेपर ही उनका श्रद्धान किया जाता है, अतः दर्शनावरण के बाद मोहनीय कर्म का पाठ स्वीकार किया है । अन्तराय यद्यपि घातिकर्म है, पर वह नामादि तीन कर्मों के निमित्त से ही जीव के भोगादि गुणों के घातने में समर्थ होता है इसलिए उसका पाठ अघाति कर्मों के अन्त में स्वीकार किया है । आयु भव में अवस्थिति का निमित्त है, इसलिए नाम कर्म का पाठ आयुकर्म के बाद रखा है तथा भव के होनेपर ही जीव का नीच-उच्चपना होना सम्भव है, इसलिए गोत्र कर्म का पाठ नाम कर्म के बाद स्वीकार किया है । यद्यपि वेदनीय अघातिकर्म है पर वह मोह के बलसे ही सुखदुःख का वेदन करने में समर्थ है, अन्यथा नहीं, इसलिए मोहनीय कर्म के पूर्व घातिकर्म के मध्य उसका पाठ स्वीकार किया है । यह आठों कर्मों के पाठक्रम को स्वीकार करने विषयक उक्त कथन गोम्मटसार कर्मकाण्ड के आधार से किया है । बहुत सम्भव है कि इस पाठकर्म का निर्देश स्वयं प्रातःस्मरणीय आचार्य भूतबलि ने प्रकृत अर्थाधिकार के प्रारम्भ में किया होगा । पर उसके प्रथम ताडपत्र के त्रुटित हो जाने के कारण ही हमने गोम्मटसार कर्मकाण्ड के आधार से यह स्पष्टीकरण किया है ।

यह तो सुनिश्चित है कि २३ प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं में से सत्स्वरूप सभी वर्गणाओं से ज्ञानावरणादि कर्मों का निर्माण नहीं होता । किन्तु उनमें से मात्र कर्मण वर्गणाएं ही ज्ञानावरणादि कर्म भाव को प्राप्त होती हैं । उसमें भी अपने निश्चय उपादान के अनुसार ही वे वर्गणाएं मिथ्यादर्शनादि बाह्य हेतु को प्राप्त कर कर्मभाव को प्राप्त होती हैं, सभी नहीं । जिस प्रकार यह नियम है उसी प्रकार उपादान भाव को प्राप्त हुई सभी कर्मणवर्गणाएं ज्ञानावरणादि रूप से कर्मभाव को प्राप्त नहीं होती । किन्तु जैसे गेहूंरूप परिणमन करनेवाले बीजरूप स्कन्ध अलग होते हैं और चनेरूप परिणमन करनेवाले बीजरूप स्कन्ध अलग होते हैं यह सामान्य नियम है वैसे ही ज्ञानावरणरूप परिणमन करनेवाली कर्मण वर्गणाएं जुदी हैं और दर्शनावरणारूप परिणमन करनेवाली कर्मणवर्गणाएं अलग हैं । इन ज्ञानावरणादि कर्मों का अपनी अपनी जाति को छोड़ कर अन्य कर्म रूप संक्रमित नहीं होने का यही कारण है । तथा

इसी आधार पर दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय का परस्पर संक्रमण नहीं होता यह स्वीकार किया गया है। चारों आयुओं का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता, बहुत सम्भव है इसका भी यही कारण हो।

२. सर्वबन्ध—नोसर्वबन्ध अनुयोगद्वार

यह प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोगद्वारका सामान्य अवलोकन है। आगे जितने भी अनुयोगद्वार आये हैं उनद्वारा इसी प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोगद्वारका को आलम्बन बनाकर विशेष उहापोह किया गया है। उनके नाम पहले ही दे आये हैं। जिस अनुयोग-द्वारका जो नाम है उसमें अपने नामानुरूप ही विषय निबद्ध किया गया है। यथा सर्वबन्ध और नोसर्वबन्ध इन दो अनुयोग द्वारों को लें। इनमें यह बतलाया गया है कि ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंमें से ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मका बन्ध व्युच्छित्ति होने तक सर्वबन्ध होता है, क्योंकि इन दोनों कर्मोंकी जो पाँच-पाँच प्रकृतियाँ हैं उनका अपने बन्ध होने के स्थल तक सतत बन्ध होता रहता है। दर्शनावरण कर्मका सर्व बन्ध भी होता है और नोसर्वबन्ध भी होता है। सासादन गुणस्थान तक इसकी सभी प्रकृतियोंका बन्ध होने से सर्वबन्ध होता है, आगेके गुणस्थानों में नोसर्वबन्ध होता है, क्योंकि दूसरे गुणस्थान के अन्तमें स्यानगृद्धिर्त्रिककी बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। और अपूर्वकरण के प्रथम भाग में निद्रा और प्रचलाकी बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। इसी प्रकार मोहनीय और नामकर्म के विषय में भी जानना चाहिए। इन दो कर्मोंमें सर्वबन्ध से तात्पर्य जो प्रकृतियाँ अधिकसे अधिक युगपत् बन्ध सकती हैं उनकी विवक्षा है। तथा उनसे कर्मका बन्ध जब होता तब वह नोसर्वबन्ध कहलाता है। वेदनीय, आयु, गोत्र इन तीन कर्मोंका नोसर्वबन्ध ही होता है, क्योंकि इन कर्मोंकी एक कालमें अपनी-अपनी विवक्षित एक प्रकृतिका ही बन्ध होता है। यह उक्त दो अनुयोग द्वारोंका स्पष्टीकरण है। इसी प्रकार अन्य अनुयोग द्वारोंका स्पष्टीकरण समझना चाहिए। इस अल्प निबन्ध में समग्र विवेचन सम्भव नहीं है। दिशा मात्रका ज्ञान कराया गया है। इतना अवश्य है कि महाबन्ध में जो बन्ध स्वामित्व विचय अनुयोगद्वार निबद्ध हैं उसीके अनुसार बन्ध स्वामित्व विचय तीसरे खण्डकी रचना हुई है। दोनोंका विषय एक है, और शैली भी एक है। मात्र अन्तर इतना है कि बन्ध स्वामित्व विचय में ओघके समान प्रत्येक मार्गणा में और उसके अवान्तर भेदों में किन प्रकृतियोंका कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है इसको प्रकृतियों के नाम निर्देश पूर्वक निबद्ध किया गया है जब कि महाबन्ध के बन्ध स्वामित्व विचय में जिस मार्गणास्थान के विषय की पहले कहे गये जिस ओघ या मार्गणास्थान के विषय के साथ समानता है उसका 'एवं' के साथ उस मार्गणास्थान का निर्देश करके संक्षेपीकरण कर दिया गया है। यथा—एवं ओघ मंगो पंचिंदिय—तस०२मनसि। इतना अवश्य है कि महाबन्ध में इस अनुयोग-द्वार का बहुत कुछ भाग और एक जीव की अपेक्षा काल अनुयोगद्वार का प्रारम्भ का कुछ भाग इस विषय सम्बन्धी ताडपत्र के नष्ट हो जाने से त्रुटित हो गया है। जिसकी पूर्ति बन्धस्वामित्व विचय, वर्गणाखण्ड तथा अन्य उपयोगी सामग्री के आधार से की जा सकती है। पहले जिस एक ताडपत्र के नष्ट होने का निर्देश कर आये हैं उसकी भी यथा सम्भव वर्गणाखण्ड के प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोगद्वार आदि से पूर्ति की जा सकती है।

२. स्थितिबन्ध

स्थिति अवस्थान काल को कहते हैं। ज्ञानावरणादि मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियों का बन्ध हानेपर उनका जितने काल तक अवस्थान रहता है उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। वह मूल प्रकृति स्थितिबन्ध और उत्तर प्रकृति स्थितिबन्ध के भेद से दो प्रकार का है। उन्हीं दोनों स्थितिबन्धों का इस अर्थाधिकार में निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम मूल प्रकृति स्थितिबन्ध के प्रसंग से ये चार अनुयोगद्वार निबद्ध किये गये हैं—स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा, आबाधाकाण्ड प्ररूपणा और अल्पबहुत्व। इन चारों अनुयोगद्वारों को वेदना खण्ड के वेदना काल विधान में जिस विधि से निबद्ध किया है वही विधि यहाँ अपनाई गई है। दोनों स्थलोंपर सूत्र रचना सदृश है। मात्र महाबन्ध में परम्परोपनिधा के प्रसंग से बहुत स्थल त्रुटित हो गया है ऐसा प्रतित होता है। महाबन्ध में इस स्थल पर इसका कोई संकेत दृष्टिगोचर नहीं होता। संक्षेप में स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१४ जीव समासों में स्थितिबन्धस्थान^१ स्थितिबन्धस्थान — प्ररूपणा सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक से लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक तक उत्तरोत्तर कितने गुणे होते हैं यह स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा इस अनुयोगद्वार में निबद्ध किया गया है। तथा इसी अनुयोगद्वार के उक्त चौदह जीवसमासों में संक्लेश विशुद्धिस्थानों के अल्प बहुत्व को निबद्ध किया गया है। यहाँ पर जिन परिणामों से कर्मों कि स्थितियों का बन्ध होता है उनकी स्थितिबन्ध संज्ञा करके इस अनुयोगद्वार में स्थितिबन्ध के कारणों के आधार से अल्प बहुत्व का विचार किया गया है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

परिवर्तमान असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति और नीच गोत्र प्रकृतियों के बन्ध के योग्य परिणामों को संक्लेश स्थान कहते हैं। तथा साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र प्रकृतियों के बन्ध योग्य परिणामों को विशुद्धिस्थान कहते हैं। यहाँ पर वर्धमान कषाय का नाम संक्लेश और हीयमान कषाय का नाम विशुद्धि यह अर्थ परिगृहित नहीं है, क्यों कि ऐसा स्वीकार करने पर दोनों स्थानों को एक समान स्वीकार करना पडता है और ऐसी अवस्था में जघन्य कषाय स्थानों को विशुद्धि रूप, उत्कृष्ट कषाय स्थानों को संक्लेश रूप तथा मध्य के कषाय स्थानों को उभयरूप स्वीकार करना पडता है। दूसरे संक्लेश स्थानों से विशुद्धि स्थान थोड़े हैं इस प्रकार जो प्रवाह्यमान गुरुओं का उपदेश चला आ रहा है, इस कथन के साथ उक्त कथन का विरोध आता है। तीसरे उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के कारणभूत विशुद्धि स्थान अल्प हैं और जघन्य स्थिति बन्ध के कारणभूत विशुद्धि स्थान बहुत हैं यह जो गुरुओं का उपदेश उपलब्ध होता है इस कथन के साथ भी उक्त कथन का विरोध आता है, इसलिए हीयमान कषाय स्थानों को विशुद्धि कहते हैं यह मानना समीचीन नहीं है।

यद्यपि दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय की उपशमना और क्षपणा में प्रति समय अव्यवहित पूर्व समय में उदयागत अनुभाग स्पर्धकों से अगले समय में गुणहीन अनुभाग स्पर्धकों के उदय से जो कषाय उदय स्थान उत्पन्न होते हैं उन्हें विशुद्धि स्वरूप स्वीकार किया गया है, इसलिए हीयमान कषाय

को विशुद्धि कहते हैं यह नियम यहाँ बन जाता है यह ठीक है। परन्तु इस नियम को जीवों की अन्यत्र संसार स्वरूप अवस्था में लागू नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उस अवस्था में छह प्रकार की वृद्धि और छह प्रकार की हानि द्वारा कषाय उदय स्थानों की उत्पत्ति देखी जाती है।

माना कि संसार अवस्था में भी अनन्तगुण हानि का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त स्वीकार किया गया है, इसलिए वहाँ भी अन्तर्मुहूर्त काल तक अनुभाग स्पर्धकों की हानि होनेसे उतने ही काल तक विशुद्धि बन जाती है यह कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ विशुद्धि का यह अर्थ विवक्षित नहीं है। किन्तु यहाँ पर साता आदि के बन्ध के योग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं। और असाता आदि के बन्ध के योग्य परिणामों को संक्लेश कहते हैं यही अर्थ विवक्षित है। अन्यथा उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध के योग्य विशुद्धिस्थान अल्प होते हैं यह नियम नहीं बन सकता। इसलिए जघन्य स्थिति बन्ध से लेकर उत्कृष्ट स्थिति बन्ध तक संक्लेश स्थान उत्तरोत्तर अधिक होते हैं और उत्कृष्ट स्थिति बन्ध से लेकर जघन्य स्थिति बन्धतक विशुद्धि स्थान उत्तरोत्तर अधिक होते हैं यह सिद्ध हो जाता है और ऐसा सिद्ध हो जाने पर लक्षण भेद से दोनों प्रकार के परिणामों को पृथक् पृथक् ही मानना चाहिए। इन दोनों प्रकार के परिणामों का पृथक् पृथक् लक्षण पूर्व में किया ही है।

इस प्रकार १४ जीव समासों में संक्लेश, विशुद्धि स्थानों की अपेक्षा अल्प बहुत्व के समाप्त होने पर इसी अनुयोग द्वार में संयतों सहित १४ जीव समासों में पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के जीवों को विवक्षित कर जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के अल्प बहुत्व का निर्देश करके इस अनुयोग द्वारको समाप्त किया है।

२. निषेक प्ररूपणा

दूसरा अनुयोग द्वार निषेक प्ररूपणा है। इसको अनन्तरोपनिघा और परम्परोपनिघा के आधार से निबद्ध कर इस अनुयोग द्वार को समाप्त किया गया है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—आयु कर्म को छोड़कर अन्य कर्मों का जितना-जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है उसमें से आबाधा को कम कर जितनी स्थिति शेष रहती है उसके प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक स्थिति के प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर एक एक चय की हानि होते हुए प्रत्येक समय में बद्ध द्रव्य निषेक रूप से विभक्त होता जाता है। इसे विशेष रूप से समझने के लिए जीवस्थान चूलिका (पृ. १५० से १५८ तक) को देखिए। प्रत्येक समय में जितना द्रव्य बँधता है उसकी समय प्रबद्ध संज्ञा है। स्थिति बन्ध के समय आबाधा को छोड़कर स्थिति के जितने समय शेष रहते हैं उनमें से प्रत्येक समय में समय प्रबद्ध में से जितना द्रव्य निक्षिप्त होता है उसकी निषेक संज्ञा है तथा स्थिति बन्ध के होने पर उसके प्रारम्भ के जितने समयों में समय-प्रबद्ध सम्बन्धी द्रव्य का निक्षेप नहीं होता उसकी आबाधा संज्ञा है। प्रथम निषेक से दूसरे निषेक में, दूसरे निषेक से तीसरे निषेक में इत्यादि रूप से अन्तिम निषेक तक उत्तरोत्तर जितने द्रव्य को कम करते जाते हैं उसकी चय संज्ञा है। इसी प्रकार अन्य विषयों को समझ कर प्रकृत प्ररूपणा का स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

३. आबाधाकाण्डक प्ररूपणा

तीसरा अनुयोग द्वार आबाधाकाण्डक प्ररूपणा है। आयुर्कर्म को छोडकर शेष कर्मों का जितना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध हो उसकी स्थिति के सब समयों में वहाँ प्राप्त आबाधा के समयों का भाग देनेपर जितना लब्ध आवे उतने समयों का एक आबाधाकाण्डक होता है। अर्थात् उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से लेकर उत्कृष्ट स्थिति में से जितने समय कम हुए हों वहाँ तक स्थितिबन्ध के प्राप्त होनेपर उस सब स्थितिबन्ध सम्बन्धी विकल्पों की उत्कृष्ट आबाधा होती है। अतः इन्हीं सब स्थितिबन्ध के विकल्पों का नाम एक आबाधाकाण्डक है। ये सब आबाधाकाण्डक प्रमाण स्थितिबन्ध के भेद पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। इसी विधि से अन्य आबाधाकाण्डक जानने चाहिए। यह नियम स्थितिबन्ध में वहाँ तक समझना चाहिए जहाँ तक उक्त नियम के अनुसार आबाधाकाण्डक प्राप्त होते हैं। आयु कर्म के स्थितिबन्ध में उसकी आबाधा परिगणित नहीं की जाती, वह अतिरिक्त होती है, इसलिए कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यचों में उत्कृष्ट या मध्यम किसी भी प्रकार की आयु का बन्ध होने पर आबाधा पूर्व कोटि के त्रिभाग से लेकर आसंक्षेपाद्वाकाल तक यथा सम्भव कुछ भी हो सकती है। नारकियों, भोगभूमिज तिर्यचों और मनुष्यों तथा देवों में भुज्यमान आयु में छह महिना अवशिष्ट रहने पर वहाँ से लेकर आसंक्षेपाद्वाकाल तक आबाधा कुछ भी हो सकती है। अतः आयुर्कर्म में उक्त प्रकार के आबाधाकाण्डकों के सम्भव होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

३. अल्पबहुत्व प्ररूपणा

इस अनुयोग द्वार में १४ जीवसमासों में जघन्य और उत्कृष्ट-आबाधा, आबाधास्थान, आबाधाकाण्डक, नानागुण हानिस्थान, एकगुण हानिस्थान जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और स्थितिबन्धस्थान पदों के आलम्बन से जिस क्रम से इन पदों में अल्प बहुत्व सम्भव है उसका निर्देश किया गया है।

४. चौबीस अनुयोगद्वार

आगे उक्त अर्थपद के अनुसार २४ अनुयोगद्वारों का आलम्बन लेकर ओघ और आदेश से स्थितिबन्ध को विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है। अनुयोगद्वारों के नाम वही हैं जिनका निर्देश प्रकृतिबन्ध के निरूपण के प्रसंग से कर आये हैं। मात्र प्रकृतिबन्ध में प्रथम अनुयोग द्वार का नाम प्रकृति-समुत्कीर्तन है और यहाँ उसके स्थान में प्रथम अनुयोगद्वार का नाम अद्वाच्छेद है। अद्वा नाम काल का है। ज्ञानावरणादि किस कर्म का जघन्य और उत्कृष्ट कितना स्थितिबन्ध होता है, किसकी कितनी आबाधा होती है और आबाधा को छोडकर जहाँ जितनी कर्मस्थिति अवशिष्ट रहती है उसमें निषेक रचना होती है, इस विषय को इस अनुयोगद्वार में निबद्ध किया गया है। शेष अनुयोगद्वारों में अपने-अपने नामानुसार विषय को निबद्ध किया गया है। सर्व स्थितिबन्ध और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में यह अन्तर है कि सर्वस्थितिबन्ध अनुयोगद्वार में उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर सभी स्थितियों का बन्ध विवक्षित रहता है और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अनुयोगद्वार में उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर मात्र अन्त की उत्कृष्ट स्थिति परिगृहित की जाती है। यहाँ

इतना विशेष और जान लेना चाहिए कि अनुकृष्ट में उत्कृष्ट को छोड़कर जघन्यसहित सब का परिग्रह हो जाता है तथा अजघन्य में जघन्य को छोड़कर उत्कृष्ट सहित सब का परिग्रह हो जाता है। उक्त नियम प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध में और प्रदेशबन्ध सर्वत्र लागू होते हैं। मात्र जहाँ प्रकृति आदि जिस बन्ध का कथन चल रहा हो वहाँ उसके अनुसार विचार कर लेना चाहिए।

५. सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव स्थितिबन्ध

स्थितिबन्ध चार प्रकार का होता है—उत्कृष्ट स्थिति बन्ध, अनुकृष्ट स्थिति बन्ध, जघन्य स्थिति बन्ध और अजघन्य स्थिति बन्ध। इन चारों प्रकार के स्थिति बन्धों में से कौन स्थितिबन्ध सादि आदि में से किस प्रकार का होता है इस का विचार इन चारों अनुयोग द्वारों में किया गया है। यथा ज्ञानावरणादि सात कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के अपने योग्य स्वामित्व के प्राप्त होने पर ही होता है। इसलिए वह सादि है और चूंकि वह नियतकाल तक ही होता है, उसके बाद पुनः जब उसके योग्य स्वामित्व प्राप्त होता है तभी वह होता है, मध्य के काल में नहीं, इसलिए वह उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अध्रुव है। तथा मध्य के काल में जो उससे न्यून स्थिति बन्ध होता है वह सब अनुकृष्ट स्थितिबन्ध है। यतः वह उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के बाद ही सम्भव है और तभी तक सम्भव है जब तक पुनः उत्कृष्ट स्थिति बन्ध प्राप्त नहीं होता। इसलिए यह भी सादि और अध्रुव है। जघन्य स्थिति बन्ध क्षपक श्रेणि में मोहनीय का नौवें गुणस्थान में और शेष छह का दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। इसलिए यह भी सादि और अध्रुव है। किन्तु पूर्व अनादि काल से उक्त सातों कर्मों का अनादि से जो स्थितिबन्ध होता है वह जघन्य स्थितिबन्ध कहलाता है। क्योंकि इसमें जघन्य स्थिति बन्ध को छोड़कर शेष सब का परिग्रह हो जाता है। इसलिए तो वह अनादि है और ध्रुव है। तथा उपशम श्रेणि में ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने पर पुनः इन कर्मों का यथा स्थान बन्ध प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए वह सादि और अध्रुव है। आयुर्कर्म का बन्ध कादाचित्क होने से उसमें सादि और अध्रुव ये दो ही विकल्प बनते हैं। विशेष जान-कारी हो जाय इसलिए इन चारों अनुयोग द्वारों का वहाँ स्पष्टीकरण किया है।

६. बन्ध स्वामित्व प्ररूपणा

स्थिति बन्ध के स्वामित्व को समझने के लिए कुछ तथ्यों का यहाँ विचार किया जाता है। यथा—

सामान्य नियम यह है कि सातावेदनीय आदि प्रकृतियों के बन्ध योग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं और असाता वेदनीय आदि प्रकृतियों के बन्ध योग्य परिणामों को संक्लेश कहते हैं। इस नियम के अनुसार ज्ञानावरणादि सभी कर्मों का स्थिति बन्ध किस प्रकार होता है इसका यहाँ विचार करना है।

बन्ध चार प्रकार का है—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश बन्ध। इन में से प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होता है तथा स्थिति बन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होता है। ऐसा होते हुए भी यदि कषाय—उदय स्थानों को ही स्थितिबन्धाध्यवसान स्थान मान लिया जावे तो कषाय

उदय स्थान के बिना मूल प्रकृतियों का बन्ध न हो सकने से सब प्रकृतियों के स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान समान हो जावेंगे। अतएव सब मूल प्रकृतियों के अपने-अपने उदय से जो परिणाम उत्पन्न होते हैं वे अपने-अपने स्थितिबन्ध के कारण हैं, अतः उन्हें ही यहाँ स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान स्वीकार किया गया है।

श्री समयसार आस्रव अधिकार (गाथा १७१) में बतलाया है कि ज्ञान गुण का जब तक जघन्य-पना है तब तक वह यथाख्यात चारित्र के पूर्व अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में पुनः पुनः परिणमन करता है, इसलिए उसके साथ राग का सद्भाव अवश्यभावी होने से वह बन्ध का हेतु होता है। आगे (गाथा १७२ में) इसे और भी स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि यद्यपि ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक अर्थात् मैं रागादि भावों का कर्ता हूँ और वे भाव मेरे कार्य है इस प्रकार रागादि के स्वामित्व को स्वीकार कर राग, द्वेष और मोह का अभाव होने से वह निरास्रव ही है, फिर भी जबतक वह अपने ज्ञान (आत्मा) को सर्वोत्कृष्ट रूप से अनुभवने, जानने और उसमें रमने में असमर्थ होता हुआ उसे जघन्य भाव से अनुभवता है, जानता है और उसमें रमता है तब तक जघन्य भाव की अन्यथा उत्पत्ति न हो सकने के कारण अनुभूयमान अबुद्धिपूर्वक कर्म कलंक के विपाक का सद्भाव होने से उसके पुद्गल कर्म का बन्ध होता ही है।

यह आगम प्रमाण है। इससे ज्ञात होता है कि केवल कषाय-उदयस्थानों की स्थिति बन्धाध्य-वसानस्थान संज्ञा न होकर कषाय-उदयस्थानों से अनुरंजित ज्ञानावरणादि कर्मों में से अपने-अपने कर्म के उदय से होनेवाले परिणामों की स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान संज्ञा है। अब इन स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानों के सद्भाव में ज्ञानावरणादि कर्मों का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है इसका विचार करते हैं। ज्ञानावरण का बन्ध करनेवाले जीव दो प्रकार के हैं—सातबन्धक और असातबन्धक, क्योंकि जो जीव ज्ञानावरणीय कर्मों का बन्ध करते हैं वे यथासम्भव सातावेदनीय और असातावेदनीय इनमें से किसी एक का बन्ध अवश्य करते हैं। उनमें से सातबन्धक जीव तीन प्रकार के हैं—चतुःस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक। जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक तक सातावेदनीय का अनुभाग चार भागों में विभक्त है। उनमें से प्रथम खण्ड गुड के समान है। दूसरा खण्ड खँड के समान है, तीसरा खण्ड शर्करा के समान है और चौथा खण्ड अमृत के समान है। जिसमें ये चारों स्थान होते हैं उसे चतुःस्थानबन्ध कहते हैं, जिसमें अन्तिम खण्ड को छोड़कर प्रारम्भ के तीन स्थान होते हैं उसे त्रिस्थानबन्ध कहते हैं तथा जिसमें प्रारम्भ के दो स्थान होते हैं उसे द्विस्थान बन्ध कहते हैं। जिसमें प्रारम्भ का एक भाग हो ऐसे अनुभागसहित सातावेदनीय का बन्ध नहीं होता, सत्त्व होता है, इसलिए यहाँ सातावेदनीय का एक स्थान बन्ध नहीं कहा। उक्त प्रकार से सातावेदनीय के बन्धक जीव भी तीन प्रकार के हो जाते हैं।

असातबन्धक जीव भी तीन प्रकार के हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक, और चतुःस्थानबन्धक। जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक तक असातावेदनीय का अनुभाग चार भागों में विभक्त है। उनमें से प्रथम खण्ड नीम के समान है, दूसरा खण्ड कांजीर के समान है, तीसरा खण्ड विष के समान है और

चवथा खण्ड हालाहल के समान है। जिसमें प्रारम्भ के दो स्थान होते हैं उसे द्विस्थानबन्ध कहते हैं, जिसमें प्रारम्भ के तीन स्थान होते हैं उसे त्रिस्थानबन्ध कहते हैं तथा जिसमें चारों स्थान होते हैं उसे चतुःस्थानबन्ध कहते हैं। इस प्रकार असाता के उक्त स्थानों के बन्धक जीव भी तीन प्रकार के होते हैं।

यहाँ सातावेदनीय के चतुःस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध होते हैं। यहां अत्यन्त तीव्र कषाय के अभावस्वरूप मन्द कषाय का नाम विशुद्धता है। वे अत्यन्त मन्द संक्लेश परिणामवाले होते हैं यह इसका तात्पर्य है। उनसे सातावेदनीय के त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं अर्थात् उत्कट कषायवाले होते हैं। उनसे सातावेदनीय के द्विस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं। अर्थात् सातावेदनीय के त्रिस्थानबन्धक जीव जितने उत्कट कषायवाले होते हैं उनसे द्विस्थानबन्धक जीव और अधिक संक्लेशयुक्त कषायवाले होते हैं।

असातावेदनीय के द्विस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध होते हैं। अर्थात् मन्द कषायवाले होते हैं। उनसे त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं। अर्थात् अति उत्कट संक्लेश युक्त होते हैं। उनसे चतुःस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं। अर्थात् अत्यन्त बहुत कषायवाले होते हैं।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल कषाय की मन्दता होना इसका नाम विशुद्धि और कषाय की तीव्रता का होना इसका नाम संक्लेश नहीं है, क्योंकि कषाय की मन्दता और तीव्रता विशुद्धि और संक्लेश दोनों में देखी जाती है, अतः आलम्बन भेद से विशुद्धि और संक्लेश समझना चाहिए। जहाँ सच्चे देव, गुरु और शास्त्र तथा दया दानादि का आलम्बन हो वह कषाय विशुद्धि स्वरूप कहलाती है तथा जहां संसार के प्रयोजन भूत पंचेन्द्रियों के विषयादि आलम्बन हो वह कषाय संक्लेश स्वरूप कहलाती है। कषाय की मन्दता और तीव्रता दोनों स्थलों पर सम्भव है।

इस हिसाब से ज्ञानावरणीय कर्म के स्थिति बन्धका विचार करने पर विदित होता है कि साता वेदनीयके चतुःस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरणीय का जघन्य स्थिति बन्ध करते हैं। यहाँ दो बातें विशेष ज्ञातव्य हैं। प्रथम यह कि उक्त जीव ज्ञानावरणीय का जघन्य स्थिति बन्ध ही करते हैं ऐसा एकान्त से नहीं समझना चाहिए। किन्तु ज्ञानावरण का अजघन्य स्थितिबन्ध भी उक्त जीवों के देखा जाता है। द्वितीय यह कि यहां ज्ञानावरण कहने से सभी ध्रुव प्रकृतियों को ग्रहण करना चाहिए।

साता वेदनीय के त्रिस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरण का अजघन्य अनुकृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं। यहाँ यद्यपि अजघन्य में उत्कृष्ट का और अनुकृष्ट में जघन्य का परिग्रह हो जाता है, पर उक्त जीव ज्ञानावरण की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का बन्ध नहीं करते है, क्यों कि उक्त जीवों में इन दोनों स्थितियों के बन्ध की योग्यता नहीं होती है।

साता वेदनीय के द्विस्थान बन्धक जीव सातावेदनीय को ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं। यहाँ उक्त जीव सातावेदनीय का ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं इस कथन का यह आशय है कि वे ज्ञानावरण कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं करते। यह आशय नहीं कि वे मात्र सातावेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थितिका ही

बन्ध करते हैं। किन्तु वे साता वेदनीय की अनुकृष्ट स्थिति का भी बन्ध करते हैं। उक्त कथन का यह आशय यहां समझना चाहिए।

असातावेदनीय के द्विस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरणीय की वहाँ सम्भव जघन्य स्थिति का बन्ध करते हैं। त्रिस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरण की अजघन्य अनुकृष्ट स्थिति का बन्ध करते हैं, क्योंकि इन के उत्कृष्ट संक्लेशरूप और अति विशुद्ध दोनों प्रकार के परिणाम नहीं पाये जाते। चतुस्थान बन्धक जीव असाता के ही उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के साथ ज्ञानावरण का भी उत्कृष्ट स्थिति बन्ध करते हैं।

यहाँ पर ज्ञानावरण कर्म की मुख्यता से उसके जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी का विचार किया। उक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर इसी प्रकार अन्य सात कर्मों के विषय में भी जान लेना चाहिए।

७. एक जीव की अपेक्षाकाल-अन्तरप्ररूपणा

स्थितिबन्ध चार प्रकार का है—जघन्यस्थितिबन्ध, उत्कृष्टस्थितिबन्ध, अजघन्यस्थितिबन्ध और अनुकृष्टस्थितिबन्ध। हम पहले सादि आदि चारों अनुयोग द्वारों की अपेक्षा उत्कृष्ट आदि चारों स्थितिबन्धों का तथा स्वामित्व का उहापोह कर आये हैं उसे ध्यान में रखकर किस कर्म के किस स्थितिबन्ध का जघन्य और उत्कृष्ट काल कितना होता है यह एक जीव की अपेक्षा काल और अन्तरप्ररूपणा में बतलाया गया है। इसी प्रकार नाना जीवों की अपेक्षा क्षेत्र आदि शेष अनुयोग द्वारों का विचार कर लेना चाहिए।

८. भुजगार-पदनिक्षेप-वृद्धि अर्थाधिकार

भुजगार स्थितिबन्ध—पिछले समय में कम स्थितिबन्ध होकर अगले समय में अधिक स्थिति का बन्ध होना भुजगार स्थितिबन्ध कहलाता है। पिछले समय में अधिक स्थितिबन्ध होकर अगले समय में कम स्थितिबन्ध होना अल्पतर स्थितिबन्ध कहलाता है। पिछले समय में जितना स्थितिबन्ध हुआ हो, अगले समय में उतना ही स्थितिबन्ध होना अवस्थित स्थितिबन्ध कहलाता है तथा पिछले समय में स्थितिबन्ध न होकर अगले समय में पुनः स्थितिबन्ध होने लगना अवक्तव्य स्थितिबन्ध कहलाता है। इस अनुयोगद्वार में इन चारों स्थितिबन्धों की अपेक्षा समुत्कीर्तना, स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंग विचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन अनुयोग-द्वारों का आलम्बन लेकर ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के स्थितिबन्ध का विचार किया गया है।

पदनिक्षेप—भुजगार विशेष को पदनिक्षेप कहते हैं। इसमें स्थितिबन्ध की उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि और उत्कृष्ट अवस्थान तथा जघन्य वृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थान इन छह पदों द्वारा समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोग द्वारों का आलम्बन, लेकर स्थितिबन्ध का विचार किया गया है।

वृद्धि—पदनिक्षेपविशेष को वृद्धि कहते हैं। इसमें स्थितिबन्ध सम्बन्धी चार वृद्धि, चार हानि, अवस्थित और अवक्तव्य इन पदों द्वारा समुत्कीर्तना आदि १३ अनुयोग द्वारों का आलम्बन लेकर ज्ञानावरणादि कर्मों की स्थितिबन्ध का विचार किया गया है।

९. अध्यवसान बन्ध प्ररूपणा

इसमें मुख्यतया तीन अनुयोग द्वार हैं—प्रकृति समुदाहार, स्थिति समुदाहार, और जीव समुदाहार।

प्रकृति समुदाहार में किस कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं इसका निर्देश करने के बाद उनका अल्पबहुत्व बतलाया गया है।

स्थिति समुदाहार में प्रमाणानुगम, श्रेणि प्ररूपणा और अनुकृष्टि प्ररूपणा इन तीन अधिकारों के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक सभी स्थिति के अध्यवसान स्थानों का उद्घाटन किया गया है। साधारणतः स्थितिबंधाध्यवसान स्थानों का स्वरूप-निर्देश हम पहले कर आये हैं। समयसार के आस्रव अधिकार में बन्ध के हेतुओं का निर्देश करते हुए वे जीव परिणाम और पुद्गल परिणाम के भेद से दो प्रकार के बतलाकर लिखा है कि जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप पुद्गल के परिणाम हैं वे कर्म बन्ध के हेतु हैं तथा जो राग, द्वेष और मोहरूप जीव के परिणाम हैं वे पुद्गल के परिणामरूप आस्रव के हेतु होने से कर्म बन्ध के हेतु कहे गये हैं। यह सामान्य विवेचन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कर्म के जितने उदयविकल्प हैं उनसे युक्त होकर ही ये द्रव्य और भावरूप आस्रव के भेद कर्मबन्ध के हेतु होते हैं, इसलिए प्रकृत में स्थितिबन्धाध्यवसान स्थानों में प्रत्येक कर्म के उदयविकल्पों को ग्रहण किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

जीवसमुदाहार में ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्धक जीवों को सातबन्धक और असातबन्धक ऐसे दो भागों में विभक्त कर और उनके आश्रय से विशद विवेचन कर इस अर्थाधिकार को समाप्त किया गया है। इस सम्बन्ध में स्पष्ट विवेचन हम पहले ही कर आये हैं। इस समग्र कथन को हृदयंगम करने के लिए वेदनाखण्ड पुस्तक ११ की द्वितीय चूलिका का सांगोपांग अध्ययन करना आवश्यक है।

१०. उत्तर प्रकृति स्थितिबन्ध अर्थाधिकार

पूर्व में मूल प्रकृतियों की अपेक्षा स्थितिबन्ध का प्रकृत में प्रयोजनीय जैसा स्पष्टीकरण किया है उसी प्रकार उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा स्पष्टीकरण जानना चाहिए। जो मूल प्रकृतियों के स्थितिबन्ध का विवेचन करते हुए अनुयोगद्वार स्वीकार किये गये हैं वे ही यहाँ स्वीकार कर उत्तर प्रकृति स्थितिबन्ध की प्ररूपणा की गई है।

अनुभागबन्ध की अपेक्षा ज्ञानावरणादि कर्मों की सब प्रकृतियाँ दो भागों में विभक्त हैं। पुण्य प्रकृतियाँ और पाप प्रकृतियाँ। पुण्य प्रकृतियों को प्रशस्त प्रकृतियाँ और पाप प्रकृतियों को अप्रशस्त प्रकृतियाँ भी कहते हैं। किन्तु स्थितिबन्ध की अपेक्षा तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु को छोड़कर शेष ११७

प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथा सम्भव उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य संक्लेश परिणामों से होता है, इसलिए शुभ और अशुभ इन सब प्रकृतियों की स्थिति अशुभ ही मानी गई है। मात्र पूर्वोक्त तीन आयुओं का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथा सम्भव तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणामों से होता है, इसलिए इन तीन आयुओं की उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी गई है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि उक्त ११७ प्रकृतियों में से जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सातावेदनीय के बन्ध काल में होता है वहाँ उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य संक्लेश का अर्थ सातावेदनीय के बन्ध योग्य जघन्य या तत्प्रायोग्य जघन्य विशुद्धि के अन्तर्गत संक्लेश परिणाम लिया गया है। तथा जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध असातावेदनीय के बन्ध काल में होता है वहाँ उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य संक्लेश का अर्थ असातावेदनीय के बन्ध योग्य उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट संक्लेश के अन्तर्गत संक्लेश परिणाम लिया गया है। इन ११७ प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष तीन आयुओं का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथास्थान सातावेदनीय के बन्ध योग्य तत्प्रायोग्य विशुद्धिरूप परिणामों के काल में होता है।

यह सब प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामित्व का विचार है। सब प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामित्व का विचार करते समय यह विशेषरूप से ज्ञातव्य है कि जिन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध क्षपकश्रेणि के जीव करते हैं उनके लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है उनमें 'वे सर्व विशुद्ध होते हैं या तत्प्रायोग्य विशुद्ध होते हैं' इस प्रकार का कोई भी विशेषण नहीं दिया गया है। जब कि ऐसे जीवों के उत्तरोत्तर प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है। ऐसा क्यों किया गया है यह एक प्रश्न है? समाधान यह है कि ये जीव शुद्धोपयोगी होते हैं, इसलिए इनके जितना कषायांश पाया जाता है वह सब अबुद्धिपूर्वक ही होता है। यही कारण है कि इन्हें उक्त प्रकार के कषायांश की अपेक्षा 'सर्व विशुद्ध या तत्प्रायोग्य विशुद्ध' विशेषण से विशेषित नहीं किया गया है। इतना अवश्य है कि इनके प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी हानि को लिए हुए वह कषायांश पाया अवश्य जाता है, इसलिए इस अपेक्षा से उनके उत्तरोत्तर प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि का भी सद्भाव बतलाया गया है। शेष प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामित्व के विषय में ऐसा समझना चाहिए कि जिन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध सातावेदनीय के बन्धकाल में होता है वहाँ उन प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के योग्य जो परिणाम होते हैं वे सातावेदनीय के बन्धयोग्य विशुद्धि की जाति के होते हैं और जिन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध असातावेदनीय के बन्धकाल में होता है वहाँ उन प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के योग्य जो परिणाम होते हैं वे असातावेदनीय के बन्धयोग्य संक्लेश परिणामों की जाति के होते हैं।

यह सब प्रकृतियों के स्थितिबन्ध के स्वामित्व का विचार है। अन्य अनुयोग द्वारों का उहापोह इस आधार से कर लेना चाहिए, क्योंकि यह अनुयोगद्वार शेष अनुयोगद्वारों की योनि है।

३. अनुभाग बन्ध

फल-दान शक्ति को अनुभाग कहते हैं। ज्ञानावरणादि मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियों का बन्ध होने पर उनमें जो फलदान शक्ति प्राप्त होती है उसे अनुभाग बन्ध कहते हैं। वह मूल प्रकृति अनुभाग बन्ध

और उत्तर प्रकृति अनुभाग बन्ध के भेदसे दो प्रकार का है। उन्हीं दोनों अनुभाग बन्धों का इस अर्थाधिकार में निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम मूलप्रथम मूलप्रकृति अनुभाग बन्ध के प्रसंग से ये दो अनुयोग द्वार निबद्ध किये गये हैं—निषेक प्ररूपणा और स्पर्धक प्ररूपणा। ज्ञानावरणादि कर्मों में से जिसमें देशघाति या सर्वघाति जो स्पर्धक होते हैं वे आदि वर्गणा से लेकर आगे की वर्गणाओं में सर्वत्र पाये जाते हैं। इस विषय का प्रतिपादन निषेक प्ररूपणा में किया गया है। अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों को एक वर्ग होता है, सिद्धों के अनन्तवे भाग और अभव्यों से अनन्त गुणे वर्गों की एक वर्गणा होती है, तथा उतनी ही वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है इस विषय का विवेचन स्पर्धक प्ररूपणा में किया गया है।

२४ अनुयोग द्वार

आगे उक्त अर्थपद के अनुसार २४ अनुयोग द्वारों का आलम्बन लेकर ओघ और आदेश से अनुभाग बन्ध को विस्तार से निबद्ध किया गया है। अनुयोग द्वारों के नाम वे ही हैं जिनका निर्देश प्रकृति बन्ध के निरूपण के प्रसंग से कर आये हैं। मात्र प्रकृति बन्ध में प्रथम अनुयोग द्वार का नाम प्रकृति समुत्कीर्तन है और इस अर्थाधिकार में प्रथम अनुयोग द्वार का नाम संज्ञा है।

१. संज्ञा अनुयोग द्वार

संज्ञा के दो भेद हैं—घाति संज्ञा और स्थान संज्ञा। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में से कौन कर्म घाति है और कौन अघाति है इस विषय का उहापोह करते हुए बतलाया है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाति कर्म हैं। तथा शेष चार अघाति कर्म हैं। जो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, वीर्य, दान, लाभ, भोग, और उपभोग आदि गुणों का घात करते हैं उन्हें घाति कर्म कहते हैं तथा जो इन गुणों के घातने में समर्थ नहीं है उन्हें अघाति कर्म कहते हैं। अघाति कर्मों में से वेदनीय कर्म के उदय से पराश्रित सुख दुःख की उत्पत्ति होती है। आयु कर्म उदय से नारक आदि भावों में अवस्थिति होती है। नाम कर्म के उदय से नारकादि गतिरूप जीव भावों की तथा विविध प्रकार के शरीरादि की उत्पत्ति होती है तथा गोत्र कर्म के उदय से जीव में ऊँच और नीच आचार के अनुकूल जीव-भाव की उत्पत्ति होती है।

स्थान संज्ञाद्वारा घाति और अघाति कर्म विषयक अनुभाग के तारतम्य को बतलानेवाले स्थानों का निर्देश किया गया है। उनमें से घाति कर्म सम्बन्धी स्थान चार प्रकार के हैं—एकस्थानीय, द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय और चतुःस्थानीय। जिस में लता के समान लचीला अति अल्प फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह एक स्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिस में दारु के (काष्ठ के) समान कुछ सघन और कठिन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह द्विस्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिस में हड्डी के समान सघन होकर अति कठिन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह त्रिस्थानीय अनुभाग कहलाता है, तथा जिसमें पाषाण के समान अति कठिनतर सघन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह चतुःस्थानीय अनुभाग कहलाता है। इस प्रकार उक्त विधि से घाति कर्मों का अनुभाग चार

प्रकार का है। उनमें से एकस्थानीय अनुभाग और द्विस्थानीय अनुभाग के प्रारम्भ का अनन्तवा भाग यह देशघाति है, शेष सर्व अनुभाग सर्वघाति है।

प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से अघाति कर्म दो प्रकार के हैं। उनमें से प्रत्येक कर्म में चार-चार प्रकार का अनुभाग पाया जाता है। पहले हम सातावेदनीय और असातावेदनीय इन दो कर्मों में वह चार-चार प्रकार का अनुभाग कैसा होता है इसका स्पष्ट उल्लेख कर आये हैं उसी प्रकार वहाँ भी घटित कर लेना चाहिए। यहाँ यह निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है कि अनुभागबन्ध के प्रारम्भ का एक ताडपत्र नुटित हो गया है। इस कारण उक्त प्ररूपणा तथा इससे आगे की छह अनुयोग द्वार सम्बन्धी प्ररूपणा उपलब्ध नहीं है। साथ ही सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इन अनुयोग द्वारों की प्ररूपणा का बहुभाग भी उपलब्ध नहीं है। किन्तु इन जो नाम हैं उनके अनुरूप ही उनमें विषय निबद्ध किया गया है। विशेष वक्तव्य न होने से यहाँ स्पष्टीकरण नहीं किया गया है।

२. स्वामित्व अनुयोग द्वार

इस अनुयोग द्वार के अन्तर्गत ज्ञानावरणादि कर्मों के जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध के स्वामित्व का विचार करने के पूर्व विशेष स्पष्टीकरण की दृष्टि से प्रत्ययानुगम, विपाकदेश और प्रशस्त-अप्रशस्त प्ररूपणा इन तीन अनुयोग द्वारों को निबद्ध किया गया है।

प्रत्ययानुगम—प्रत्यय का अर्थ निमित्त, हेतु, साधन और कारण है। जीवों के किन् परिणामों को निमित्त कर इन ज्ञानावरणादि मूल व उत्तर प्रकृतियों का बन्ध होता है इस विषय को इस अनुयोग द्वार में निबद्ध किया गया है। वे परिणाम चार प्रकार के हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। परमार्थ स्वरूप देव, गुरु, शास्त्र और पदार्थों में अयथार्थ रुचि को मिथ्यात्व कहते हैं। निदान का अन्तर्भाव मिथ्यात्व में ही होता है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मसेवन, परिग्रह का स्वीकार, मधु-मांस-पांच उदम्बर फल का सेवन, अभक्ष्यभक्षण फूलों का भक्षण, मद्यपान तथा भोजनवेला के अतिरिक्त काल में भोजन करना अविरति है। असंयम इसका दूसरा नाम है। क्रोध, मान, माया और लोभ तथा राग और द्वेष ये सब कषाय हैं। तथा जीवों के प्रदेश परिस्पंद का नाम योग है। इनमें से मिथ्यात्व अविरति और कषाय ये ज्ञानावरणादि छह कर्मों के बन्ध के हेतु है तथा उक्त तीन और योग ये चारों वेदनीय कर्म के बन्ध के हेतु हैं।

यहाँ प्रारम्भ के छह कर्मों के बन्ध—हेतुओं में योग को परिगणित न करने का यह कारण है कि ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में योग का सद्भाव रहने पर भी उक्त कर्मों का बन्ध नहीं होता। जैसे ऋजु सूत्र नय की अपेक्षा सामान्य नियम यह है कि आठों कर्मों का प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होता है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होता है। पर उस नियम की यहाँ विवक्षा नहीं है। यहाँ जिस कर्म बन्ध के साथ जिसकी त्रैकालिक अन्वय-व्यतिरेक रूप बाह्य व्याप्ति है उसके साथ उसका कार्य कारण भाव स्वीकार किया गया है। योग के साथ ऐसी व्याप्ति नहीं बनती, क्योंकि ग्यारहवें आदि तीन

गुणस्थानों में योग के रहने पर भी ज्ञानात्रणादि छह कर्मों का बन्ध नहीं होता, इसलिए इन छह कर्मों के बन्ध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति और कषाय को कहा है। यहाँ आयु कर्म के बन्ध के हेतु जीव के कौन परिणाम हैं इस का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। आगे उत्तर प्रकृतियों की प्ररूपणा में नरकायु को मिथ्यात्व प्रत्यय तथा तिर्यचायु और मनुष्यायु को मिथ्यात्व प्रत्यय और असंयम प्रत्यय तथा देवायु को मिथ्यात्व प्रत्यय, असंयम प्रत्यय और कषाय प्रत्यय बतलाया है। इससे विदित होता है कि आयु कर्म का बन्ध मिथ्यात्व प्रत्यय, असंयम प्रत्यय और कषाय प्रत्यय होना चाहिए। अपनी-अपनी बन्ध व्युच्छिति को ध्यान में रखकर उत्तर प्रकृतियों के बन्ध प्रत्ययों का विचार इसी विधि से कर लेना चाहिए।

विपाक देश—छह कर्म जीव विपाकी है, आयुकर्म भव विपाकी है तथा नामकर्म जीव विपाकी और पुद्गल विपाकी है। यहाँ जो कर्म जीव विपाकी हैं उनसे जीव की नो आगम भावरूप विविध अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं और नाम कर्म की जो प्रकृतियां पुद्गल विपाकी है उनसे जीवके प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही शरीरादि की रचना होती है। पुद्गल-विपाकी कर्मों के उदय से जीवके नोआगमभावरूप अवस्था नहीं उत्पन्न होती। लेश्या कर्म का कार्य है और धनादि का संयोग लेश्या का कार्य है, अर्थात् व्यक्त या अव्यक्त जैसा कषायांश और योग (मन, वचन और काय की प्रवृत्ति) होता है उसके अनुसार धनादि का संयोग होता है इस विवक्षा को ध्यान में रख कर ही धनादिक की प्राप्ति को कर्म का कार्य कहाँ जाता है।

प्रशस्त-अप्रशस्तप्ररूपणा—चारों घातिकर्म अप्रशस्त हैं तथा शेष चारों अघाति कर्म प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के हैं। उत्तर भेदों की अपेक्षा प्रशस्त कर्म प्रकृतियां ४२ हैं और अप्रशस्त कर्म प्रकृतियां ८२ हैं। वर्ण चतुष्क प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के होते हैं, इसलिए उन्हें दोनों में सम्मिलित किया गया है। सरल होने से यहाँ उनके नामों का निर्देश नहीं किया गया है।

इस व्यवस्था के अनुसार उक्त ४२ प्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध यथास्थान अपने-अपने योग्य उत्कट विशुद्धि के काल में होता है और ८२ अप्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध अपने-अपने योग्य उत्कट संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टि के होता है। किन्तु जघन्य अनुभागबन्ध के लिए इससे विपरीत समझना चाहिए। अर्थात् प्रशस्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध यथास्थान अपने-अपने योग्य संक्लेश के प्राप्त होने पर होता है और अप्रशस्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध यथास्थान अपने-अपने योग्य विशुद्धि के प्राप्त होनेपर होता है। यहाँ प्रथम इस बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि सातावेदनीय, असातावेदनीय, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति इन चार युगलों के जघन्य अनुभागबन्ध के स्वामी क्रम से चारों गति के परिवर्तमान मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि को बतलाया गया है। जब की गोम्मतसार कर्मकाण्ड में परिवर्तमान मध्यम परिणामवाले जीवों के स्थान में अपरिवर्तमान मध्यम परिणामवाले जीव लिये गये हैं। वेदनाखण्ड में जो जघन्य अनुभागबन्ध के अल्पबहुत्व को सूचित करनेवाला ६४ पदवाला अल्पबहुत्व आया है उसमें मध्यम परिणामवाला इन प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध करता है ऐसा उल्लेख नहीं किया है। किन्तु वहाँ अयशःकीर्ति सर्वविशुद्ध यशःकीर्ति का अति तीव्र संक्लिष्ट और सातावेदनीय का सर्वविशुद्ध जीव जघन्य अनुभागबन्ध करता है ऐसा बतलाया है।

इतना ही नहीं, किन्तु आगे चलकर त्रसादि दश युगल के जघन्य अनुभागबन्ध के स्वामी को सातासाता-वेदनीय के समान जानने की सूचना की है, जब कि महाबन्ध में इन प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबन्ध का स्वामी मध्यम परिणामवाला ही लिया गया है। गोमटसार कर्मकाण्ड में विषय में अनियम देखा जाता है। प्रति समय उत्तरोत्तर वर्धमान या हीयमान जो संक्लेश या विशुद्धिरूप परिणाम होते हैं वे अपरिवर्तमान परिणाम कहलाते हैं तथा जिन परिणामों में स्थित यह जीव परिणामान्तर को प्राप्त होकर एक, दो आदि समयों द्वारा पुनः उन्हीं परिणामों को प्राप्त करता है उसके वे परिणाम परिवर्तमान परिणाम कहलाते हैं। इस दृष्टि से उक्त पूरा प्रकरण विचारणीय है। यह संक्षेप में मूल व उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य स्वामित्व की मीमांसा है। विस्तार भय से अन्य अनुयोगद्वारों व भुजगार आदि अर्थाधिकारों का उदापोह यहाँ नहीं किया गया है।

अनुभागबन्धाध्यवसानस्थान प्ररूपणा

जिन परिणामों से अनुभागबन्ध होता है उन्हें अनुभागबन्धाध्यवसानस्थान कहते हैं। वे एक-एक स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानों के प्रति असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। किन्तु यहाँ पर कारण में कार्यका उपचार कर के अनुभागबन्धाध्यवसानस्थानों से अनुभाग स्थान लिये गये हैं। प्रकृत में १२ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—अविभाग प्रतिच्छेदप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, काण्डकप्ररूपणा, ओजयुग्मप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधस्तनस्थानप्ररूपणा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा—एक परमाणु में जो जघन्यरूप से अवस्थित अनुभाग है उसकी अविभागप्रतिच्छेदसंज्ञा है। इस दृष्टि से विचार करने पर एक कर्मप्रदेश में सब जीवों से अनन्तगुणे अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं। उनकी वर्ग संज्ञा है। ऐसे सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले जितने कर्मप्रदेश उपलब्ध होते हैं उनकी वर्गणा संज्ञा है। इससे एक अधिक अविभागप्रतिच्छेदों से युक्त जितने कर्मप्रदेश पाये जाते हैं उनसे दूसरी वर्गणा बनती है। प्रत्येक वर्गणा में अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवे भागप्रमाण वर्ग पाये जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अविभागप्रतिच्छेद की वृद्धि हुए, अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवे भागप्रमाण वर्गणाएँ उत्पन्न होती हैं। उन सब वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं। इसी विधि से दूसरा स्पर्धक उत्पन्न होता है। इतनी विशेषता है कि प्रथम स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा के एक वर्ग में जितने अविभागप्रतिच्छेद होते हैं उससे दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के एक वर्ग में सब जीवों से अनन्तगुणे अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। इस प्रकार अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवे भागप्रमाण स्पर्धकों का एक स्थान होता है।

स्थानप्ररूपणा—एक समय में एक जीव में जो कर्म का अनुभाग दृष्टिगोचर होता है उसकी स्थानसंज्ञा है। नाना जीवों की अपेक्षा ये अनुभाग बन्धस्थान असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं।

अन्तरप्ररूपणा—पूर्व में जो अनुभागबन्ध स्थान बतलाये हैं उनमें से एक अनुभागबन्धस्थान से दूसरे अनुभागबन्धस्थान में अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा सब जीवों से अनन्तगुणा अन्तर पाया जाता है। उपरित स्थानमें से अधस्तन स्थान को घटाकर जो लब्ध आवे उसमें एक कम करने पर उक्त अन्तर प्राप्त होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

काण्डकप्ररूपणा—अनन्तभाग वृद्धिकाण्डक, असंख्यात भाग वृद्धिकाण्डक, संख्यात भाग वृद्धिकाण्डक, संख्यातगुणवृद्धिकाण्डक, असंख्यातगुणवृद्धिकाण्डक और अनन्तगुणवृद्धिकाण्डक इस प्रकार इन छह के आधार से इसमें वृद्धि का विचार किया गया है।

ओजयुग्मप्ररूपणा—इस द्वारा वर्ग, स्थान और काण्डक ये कृतयुग्मरूप है या बादर युग्मरूप है, या कनि (?) ओजरूप है, तेजोरूप है इसका उहापोह करते हुए अविभाग प्रतिच्छेद, स्थान और काण्डक ये तीनों कृतयुग्मरूप है यह बतलाया गया है।

षट्स्थानप्ररूपणा—अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि यह छह वृद्धियाँ हैं इनका प्रमाण कितना है यह इस प्ररूपणा में बतलाया गया है।

अधस्तन स्थानप्ररूपणा—कितनी बार अनन्तभाग वृद्धि होने पर एक बार असंख्यातभाग वृद्धि होती है इत्यादि विचार इस प्ररूपणा में किया गया है।

समय प्ररूपणा—जितने भी अनुभाग बन्धस्थान हैं उनमें से कौन अनुभाग बन्धस्थान कितने काल तक बन्ध को प्राप्त होता है इस का उहापोह इस प्ररूपणा में किया गया है।

वृद्धिप्ररूपणा—षड्गुणी हानि-वृद्धि और तत्सम्बन्धी कालका विचार इस प्ररूपणा में किया गया है।

यवमध्यप्ररूपणा—यवमध्य दो प्रकार का है—जीव यवमध्य और काल यवमध्य। यहाँ काल यवमध्य विवक्षित है। यद्यपि समयप्ररूपणा के द्वारा ही यवमध्य की सिद्धि हो जाती है फिर भी किस वृद्धि या हानि से यवमध्यका प्रारम्भ और समाप्ति होती है इस तथ्यका निर्देश करने के लिए यवमध्यप्ररूपणा पृथक् से की गई है।

पर्यवसान प्ररूपणा—सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के जघन्य अनुभागस्थान से लेकर समस्त स्थानों में अनन्त गुण के उपर अनन्तगुणा होना यह इस प्ररूपणा में बतलाया गया है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा—इसमें अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा इन दो अनुयोग द्वारोंका आलम्बन लेकर अनन्तगुण वृद्धिस्थान और असंख्यात गुणवृद्धिस्थान आदि कौन कितने होते हैं इसका उहापोह किया गया है।

इस प्रकार उक्त बारह अधिकारों द्वारा अनुभागबन्धाध्यवसान स्थानों का उहापोह करने के बाद जीव समुदाहार सम्बन्धी आठ अनुयोग द्वारोंका उहापोह किया गया है। वे आठ अनुयोगद्वार इस प्रकार हैं— एकस्थान जीव प्रमाणानुगम, निरन्तरस्थान जीव प्रमाणानुगम, सान्तरस्थान जीव प्रमाणानुगम, नाना जीव कालप्रमाणानुगम, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, और अल्पबहुत्व।

एकस्थान जीवप्रमाणानुगम—एक-एक अनुभाग बन्धाध्यवसान स्थान में अनन्त जीव पाये जाते हैं यह बतलाया गया है। यहाँ यह विचार सब सकषाय जीवों की अपेक्षा किया जा रहा है, केवल त्रस जीवों की अपेक्षा नहीं इतना विशेष समझना चाहिए।

निरन्तरस्थान जीवप्रमाणानुगम—इसमें सब अनुभाग बन्धाध्यवसान स्थान जीवों से विरहित नहीं है यह बतलाया गया है।

सान्तरस्थान जीवप्रमाणानुगम—इसमें ऐसा कोई अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान नहीं है जो जीवों से विरहित हो यह बतलाया गया है।

नानाजीवकालानुगम—एक-एक अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान में नाना जीव सर्वदा पाये जाते हैं यह बतलाया गया है।

वृद्धिप्ररूपणा—इसमें अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा इन दो अनुयोगद्वारों का आलम्बन लेकर किस अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान में कितने जीव होते हैं यह उहापोह किया गया है।

यवमध्यप्ररूपणा—इसमें सब अनुभागबन्धाध्यवसान स्थानों के असंख्यातवें भाग में यवमध्य होता है तथा यवमध्य के नीचे अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान थोड़े होते हैं और उसके ऊपर असंख्यातगुणे होते हैं यह बतलाया गया है।

स्पर्शप्ररूपणा—इसमें किस अपेक्षा से कितना स्पर्शनकाल होता है इसका विचार किया गया है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा—इसमें किसमें कितने जीव पाये जाते हैं इसका उहापोह किया गया है।

उत्तर प्रकृति अनुभागबन्ध के प्रसंग से अध्यवसान समुदाहार का विचार करते हुए ये तीन अनुयोगद्वार निबद्ध किये गये हैं—प्रकृतिसमुदाहार, स्थितिसमुदाहार, और तीव्र मन्दता। इनमें से प्रकृतिसमुदाहार के एक अवान्तर भेद प्रमाणानुग के अनुसार सब प्रकृतियों के अनुभागबन्धाध्यवसान असंख्यात लोक प्रमाण बतलाकर यह विशेष निर्देश किया गया है कि अपगतवेद मार्गणा और सूक्ष्म साम्पराय संयतमार्गणा में एक-एक ही परिणाम स्थान होता है। इसका कारण यह है कि नौवा गुणस्थान अनिवृत्तिकरण है। उसके प्रत्येक समय में अन्य-अन्य एक ही परिणाम होता है। इसी प्रकार सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में भी प्रत्येक समय में अन्य-अन्य एक ही परिणाम होता है, दोनों गुणस्थानों में जो प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए होता है। यही कारण है कि उक्त दोनों मार्गणाओं में वहाँ बन्ध योग्य प्रकृतियों का एक-एक परिणामस्थान स्वीकार किया गया है। आगे पूर्वोक्त तीनों अनुयोगद्वारों को निबद्ध कर अनुभाग बन्ध अर्थाधिकार समाप्त किया गया है।

४. प्रदेशबन्ध

कार्मण वर्गणाओं का योग के निमित्त से कर्मभाव को प्राप्त होकर जीव प्रदर्शों में एकक्षेत्रावगाह होकर अवस्थित रहने को प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस विधि से जो कर्मपुञ्ज जीव प्रदर्शों में एक क्षेत्रावगाह-

रूप से अवस्थित होता है वह सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण और अभव्यों से अनन्त गुणा होता है । इस प्रकार प्रत्येक समय में बन्ध को प्राप्त होने वाले कर्मपुञ्ज की समयप्रबद्ध संज्ञा है । मूल प्रकृति प्रदेशबन्ध और उत्तर प्रकृति प्रदेशबन्ध के भेद से वह दो प्रकार का है ।

अब किस कर्म को किस हिसाब से कर्मपुञ्ज मिलता है इसका सकारण निर्देश करते हैं । जब आठों कर्मों का बन्ध होता है तब आयु कर्म का स्थितिबन्ध सब से स्तोक होने के कारण उसके हिस्से में सबसे कम कर्मपुञ्ज आता है । वेदनीय को छोड़कर शेष कर्मों को अपने-अपने स्थिति बन्ध के अनुसार कर्मपुञ्ज बटवारे में आता है । इसलिए नाम कर्म और गोत्र कर्म में से प्रत्येक को उससे विशेष अधिक कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म में से प्रत्येक को उससे विशेष अधिक कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है । मोहनीय कर्म को उससे विशेष कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है । तथा वेदनीय कर्म के निमित्त से सभी कर्म जीवों में सुख-दुःख को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, इसलिए वेदनीय कर्म को सबसे अधिक कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है ।

जब आयु कर्म को छोड़कर सात कर्मों का बन्ध होता है तब सात कर्मों में और जब आयु तथा मोहनीय कर्म को छोड़कर यथास्थान छह कर्मों का बन्ध होता है तब छह कर्मों में उक्त विधि से प्रत्येक समय में बन्ध को प्राप्त हुए कर्म पुञ्ज का बटवारा होता है । यह प्रत्येक समय में बन्ध को प्राप्त हुए समय प्रबद्ध में से किस कर्म को कितना द्रव्य मिलता है इसका विचार है । उत्तर प्रकृतियों में से जहाँ जितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है उनमें अपनी-अपनी मूल प्रकृतियों को मिले हुए द्रव्य के अनुसार बटवारा होता रहता है । वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की यथा सम्भव एक समय में एक प्रकृति का ही बन्ध होता है, इसलिए जब जिस प्रकृति का बन्ध हो तब उक्त कर्मों का पूरा द्रव्य उसी प्रकृति को मिलता है । शेष कर्मों का आगमानुसार विचार कर लेना चाहिए । तथा आयु कर्म के बन्ध के विषय में भी आगमानुसार विचार कर लेना चाहिए ।

इस अर्थाधिकार के वे सब अनुयोगद्वार हैं जो प्रकृतिबन्ध आदि अर्थाधिकारों के निबद्ध कर आये हैं । मात्र प्रथम अनुयोगद्वार का स्थानप्ररूपणा है, इसके दो उप अनुयोगद्वार हैं—योगस्थान प्ररूपणा और प्रदेशबन्ध प्ररूपणा ।

योगस्थानप्ररूपणा—मन, वचन और काय के निमित्त से होनेवाले जीव प्रदेशों के परिस्पन्द को योग कहते हैं । योग शरीर नाम कर्म के उदय से होता है । इसलिये यह औदयिक है । परमागम में इसे क्षायोपशमिक कहने का कारण यह है कि उक्त कर्मों के उदय से शरीर नाम कर्म के योग पुद्गल पुञ्ज के सञ्चय को प्राप्त होने पर वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से वृद्धि को और हानि को प्राप्त हुए वीर्य के निमित्त से जीव प्रदेशों का संकोच-विकोच, वृद्धि और हानि को प्राप्त होता है, इसलिए उसे परमागम में क्षायोपशमिक कहा गया है । परन्तु है वह औदयिक ही । यद्यपि वीर्यान्तराय कर्म का क्षय होने से अरहन्तों के क्षायोपशमिक वीर्य नहीं पाया जाता यह यथार्थ है । परन्तु जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि योग औदयिक ही है, क्षायोपशमिक नहीं, क्षायोपशमिकपने को तो उसमें उपचार किया गया है, इसलिए अरहन्तों

का वीर्य क्षायिक होने पर भी उक्त लक्षण के स्वीकार करने में कोई दोष नहीं प्राप्त होता और इसीलिए अयोग केवलियों और सिद्धों में अतिप्रसंग भी नहीं प्राप्त होता ।

अब एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सब संसारी जीवों के सब प्रदेश व्याधि और भय आदि के निमित्त से सदा काल चलायमान ही होते रहते हैं ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है । ऐसे समय में कुछ प्रदेश चलायमान भी होते हैं और कुछ प्रदेश चलायमान नहीं भी होते । उनमें से जो प्रदेश चलायमान न होकर स्थित रहते हैं उनमें योग का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होगा । उस समय जो प्रदेश स्थित रहते हैं उनमें परिस्पन्द नहीं होने से योग नहीं बन सकेगा यह स्पष्ट ही है । यदि परिस्पन्द के बिना उनमें भी योग स्वीकार किया जाता है तो अयोग केवलियों और सिद्धों के भी योग का सद्भाव स्वीकार करने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है । समाधान यह है कि मन, वचन और काय की क्रिया की उत्पत्ति के लिए जो जीव का उपयोग होता है उसे योग कहते हैं और वह कर्मबन्ध का कारण है । यह उपयोग कुछ जीव प्रदेशों में हो और कुछ में न हो यह तो बनता नहीं, क्यों कि एक जीव में उपयोग की अखण्डरूप से प्रवृत्ति होती है । और इस प्रकार सब जीव प्रदेशों में योग का सद्भाव बन जाने से कर्मबन्ध भी सब जीवप्रदेशों में बन जाता है । यदि कहा जाय कि योग के निमित्त से सब जीव प्रदेशों में परिस्पन्द होना ही चाहिए सो यह एकान्त नियम नहीं है । किन्तु नियम यह है कि जो भी परिस्पन्द होता है वह योग के निमित्त से ही होता है, अन्य प्रकार से नहीं । इसी प्रकार यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि जीव का एक क्षेत्र को छोड़कर क्षेत्रान्तर में जाना इसका नाम योग नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर सिद्ध जीवों का सिद्ध होने के प्रथम समय में जो ऊर्ध्व लोक के अन्त तक गमन होता है उसे भी योग स्वीकार करने पड़ेगा । अत एव यही निश्चित होता है कि जहाँ तक शरीर नाम कर्म का उदय है योग वहीं तक होता है । यतः सयोग केवली गुणस्थान के अन्तिम समय तक यथा सम्भव उक्त कर्मों का उदय नियम से पाया जाता है, अतः योग का सद्भाव भी वहीं तक स्वीकार किया गया है ।

वह योग तीन प्रकार का है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग । भावमन की उत्पत्ति के लिए होनेवाले प्रयत्न को भावमन कहते हैं, वचन की प्रवृत्ति के लिए होनेवाले प्रयत्न को वचनयोग कहते हैं, तथा शरीर की क्रिया की उत्पत्ति के लिए होनेवाले प्रयत्न को काययोग कहते हैं । इन तीनों योगों की प्रवृत्ति क्रम से होती है । इन तीनों में से जब जिसकी प्रधानता होती है तब उस नाम का योग कहलाता है । यद्यपि कहीं मन, वचन और काय की युगपत् प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है सो इस प्रकार युगपत् प्रवृत्ति होने में विरोध नहीं है । किन्तु उनके लिए युगपत् प्रयत्न नहीं होता, अतः जब जिसके लिए प्रथम परिस्पन्द-रूप प्रयत्न विशेष होता है तब वहीं योग कहलाता है ऐसा समझना चाहिए ।

एक जीव के लोकप्रमाण प्रदेश होते हैं उनमें एक काल में परिस्पन्दरूप जो योग होता है उसे **योगस्थान** कहते हैं । उसकी प्ररूपणा में ये दस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्शकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, और अल्पबहुत्व ।

एक-एक जीव प्रदेश में जो जघन्य वृद्धि होती है वह योग अविभागप्रतिच्छेद कहलाता है। इस विधि से एक जीव प्रदेश में असंख्यात लोक प्रमाण योग-अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। इस प्रकार यद्यपि जीव के सब प्रदेशों में उक्त प्रमाण ही योग-अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। फिर भी एक जीव प्रदेश में स्थित जघन्य योग से एक जीव प्रदेश में स्थित उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है।

सब जीव प्रदेशों में समान योग-अविभागप्रतिच्छेद नहीं पाये जाते, इसलिए असंख्यात लोकप्रमाण योग-अविभागप्रतिच्छेदों की एक वर्गणा होती है। सब वर्गणाओं का सामान्य से यही प्रमाण जानना चाहिए। आशय यह है कि जितने जीव प्रदेशों में समान योग-अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं उनकी एक वर्गणा होती है। तथा दूसरे एक अधिक समान योग-अविभागप्रतिच्छेदवाले जीव प्रदेशों की दूसरी वर्गणा होती है। यही विधि एक स्पर्धक के अन्तर्गत तृतीयादि वर्गणाओं के विषय में भी जानना चाहिए। ये सब वर्गणाएँ एक जीव के सब प्रदेशों में श्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण होती हैं। इतना विशेष है कि प्रथम वर्गणा से द्वितीयादि वर्गणाएँ जीव प्रदेशों की अपेक्षा उत्तरोत्तर विशेष हीन होती हैं। एक वर्गणा में कितने जीव प्रदेश होते हैं इसका समाधान यह है कि प्रत्येक वर्गणा में जीव प्रदेश असंख्यात प्रतरप्रमाण होते हैं।

जहाँ क्रमवृद्धि और क्रमहानि पाई जाती है उसकी स्पर्धक संज्ञा है। इस नियम के अनुसार जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है। इस स्पर्धक के अन्तर्गत जितनी वर्गणाएँ होती हैं उनमें से प्रथम वर्गणा के एक वर्ग में जितने योग अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं उससे दूसरी वर्गणा के एक वर्ग में एक अधिक योग-अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। यही क्रम प्रथम स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा तक जानना चाहिए। इसके आगे उक्त क्रमवृद्धि का विच्छेद हो जाता है। इस विधि से एक जीव के सब प्रदेशों में जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धक प्राप्त होते हैं। इतना विशेष है कि प्रथम स्पर्धक के ऊपर ही प्रथम स्पर्धक की ही वृद्धि होनेपर दूसरा स्पर्धक प्राप्त होता है, क्यों कि प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के एक वर्ग से दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा का एक वर्ग दूना होता है। प्रथम स्पर्धक और दूसरे स्पर्धक की चौड़ाई (विस्तार) बराबर है। मात्र द्वितीय स्पर्धक का आयाम प्रथम स्पर्धक के आयाम से विशेष हीन है। यद्यपि ऐसी स्थिति है फिर भी यह कथन एकदेश विकृति को ध्यान में न लेकर द्रव्यार्थिक नय से किया गया है। इस प्रकार दो स्पर्धकों के मध्य कितना अन्तर होता है इसका यह विचार है। आगे के स्पर्धकों में इसी विधि से अन्तर जान लेना चाहिए। इस प्रकार एक जीव के सब प्रदेशों में जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धक प्राप्त होते हैं। इन्हीं सबको मिलाकर एक योगस्थान कहलाता है। सब जीवों के नाना समयों की अपेक्षा ये योगस्थान भी जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

अनन्तरोपनिधा और परस्परोपनिधा का विचार सुगम है। सब योगस्थान तीन प्रकार के हैं—उपपाद-योगस्थान, एकान्तानुवृद्धि-योगस्थान और परिणाम योगस्थान। इनमें से प्रारम्भ के दो योगस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय ही है। सब परिणाम योगस्थानों का जघन्य काल एक समय है।

उत्कृष्ट काल अलग-अलग है। किन्ही का दो समय है, किन्ही का तीन समय है और किन्ही का अलग-अलग चार, पांच, छह, सात और आठ समय है। ये सब योगस्थान अलग-अलग जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। तथा सब मिलाकर भी जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

उनमें से आठ समय वाले योगस्थान अल्प होते हैं। यव्यमध्य के दोनों ही पार्श्व भाग में होने वाले योगस्थान परस्पर समान होकर भी उनसे असंख्यात गुणे होते हैं। इसी प्रकार छह, पांच और चार समय वाले योगस्थानों के विषय में जान लेना चाहिए। तीन और दो समय वाले योगस्थान मात्र ऊपर के पार्श्व भाग में ही होते हैं।

इन योगस्थानों में चार वृद्धि और चार हानियाँ होती हैं। अनन्तभाग वृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि तथा ये ही दो हानियाँ नहीं होती। इनमें से तीन वृद्धियों और तीन हानियों का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। तथा असंख्यात गुण वृद्धि और असंख्यात गुणहानि का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त होता है।

यहाँ प्रश्न है कि जिस प्रकार कर्म प्रदेशों में अपने जघन्यगुण के अनन्तवें भाग की अविभाग-प्रतिच्छेद संज्ञा होती है उसी प्रकार यहाँ भी एक जीव प्रदेशसम्बन्धी जघन्य योग के अनन्तवें भाग की अविभागप्रतिच्छेद संज्ञा क्यों नहीं होती? समाधान यह है कि जिस प्रकार कर्म गुण में अनन्तभाग वृद्धि पायी जाती है वैसे यहाँ सम्भव नहीं है, क्यों कि यहाँपर एक-एक जीव प्रदेश में असंख्यात लोक प्रमाण ही योग-अविभाग प्रतिच्छेद पाये जाते हैं, अनन्त नहीं।

जीव दो प्रकार के हैं पर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त। इनमें से उक्त दोनों प्रकार के जीवों के नूतन भवग्रहण के प्रथम समय में उपपाद योगस्थान होता है, भवग्रहण से दूसरे समय से लेकर लब्ध्यपर्याप्त जीवों के आयुबन्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व समय तक तथा पर्याप्त जीवों के शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने के अन्तिम समय तक एकान्तानुवृद्धि योगस्थान होता है तथा आगे दोनों के भव के अन्तिम समय तक परिणाम योगस्थान होता है।

अल्पबहुत्व का विचार करने पर सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य सब के स्तोक है। उससे बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय असंज्ञी और संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य योग उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त का और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग क्रम से असंख्यात गुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग क्रम से असंख्यातगुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग क्रम से असंख्यातगुणा है। उससे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय संज्ञी और असंज्ञी अपर्याप्त का उत्कृष्ट योग, पर्याप्त उन्हीं का जघन्य योग तथा पर्याप्त उन्हीं का उत्कृष्ट योग उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा है। यहाँ प्रत्येक का उत्तरोत्तर योगगुणकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। यहाँ जिस प्रकार योग का अल्पबहुत्व कहा है उसी प्रकार बन्ध को प्राप्त होनेवाले प्रदेशपुञ्ज का अल्पबहुत्व जानना चाहिए। गुणकार भी वही है।

२. प्रदेशबन्ध स्थानप्ररूपणा

पहले जितने योगस्थान बतला आये हैं उतने प्रदेशबन्धस्थान होते हैं। इतनी विशेषता है कि योगस्थानों से प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेष की अपेक्षा विशेष अधिक होते हैं। खुलासा इस प्रकार है कि जघन्य योग से आठ कर्मोंका बन्ध करने वाले जीव के ज्ञानावरणीय कर्म का एक प्रदेश बन्धस्थान होता है। पुनः प्रक्षेप अधिक योगस्थान से बन्ध करने वाले जीव के ज्ञानावरणीय कर्म का दूसरा प्रदेशबन्धस्थान होता है। इसी प्रकार उत्कृष्ट योगस्थान तक जानना चाहिए। इससे जितने योगस्थान हैं उतने ही ज्ञानावरणीय के प्रदेश बन्धस्थान प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार आयुर्कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मोंके योगस्थान प्रमाण प्रदेश बन्धस्थान घटित कर लेना चाहिए। उपपाद योगस्थानों और एकान्तानुवृद्धि योगस्थानों के काल में आयु कर्म का बन्ध नहीं होता, इसीलिए आयुर्कर्म के उतने ही प्रदेश बन्धस्थान प्राप्त होते हैं जितने परिणाम योगस्थान होते हैं। यहाँ योगस्थानों से प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेष की अपेक्षा अधिक होते हैं इसका विचार आगमानुसार करना चाहिए। इतना अवश्य है कि यह नियम आयुर्कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मोंपर ही लागू होता है, आयु कर्म पर नहीं, क्योंकि उसके जितने परिणाम योगस्थान होते हैं उतने ही प्रदेशबन्धस्थान पाये जाते हैं।

‘प्रकृति विशेष की अपेक्षा अधिक होते हैं’ इस वचन का दूसरा अर्थ यह है कि ऐसी प्रकृति अर्थात् स्वभाव है कि आठों कर्मों का बन्ध होते समय आयुर्कर्म को सब से अल्पद्रव्य प्राप्त होता है। उससे नाम और गोत्र प्रत्येक को विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय प्रत्येक को विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। उससे मोहनीय कर्म को विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। उससे वेदनीय को विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। आयुर्कर्म के बिना सात कर्मों में तथा आयु और मोहनीय कर्म को छोड़कर छह कर्मों में उक्त विधिसे ही द्रव्य प्राप्त होता है। जहाँ जिस प्रकार मूल प्रकृतियों को ध्यान में रखकर विचार किया उसी प्रकार आगमानुसार उत्तर प्रकृतियों में भी विचार कर लेना चाहिए।

इस अर्थाधिकार में मूल व उत्तर प्रकृतियों का अन्य जितने अनुयोगद्वारों का अवलम्बन लेकर विचार किया गया है उन सबका इस निबन्ध में ऊहापोह करना सम्भव नहीं है। मात्र मूल प्रकृतियों की अपेक्षा ओष से बन्धस्वामित्व का स्पष्टीकरण यहाँ किया जाता है।

३. बन्धस्वामित्वप्ररूपणा

स्वामित्व दो प्रकार का है—जघन्य और उत्कृष्ट। पहले उत्कृष्ट स्वामित्व का विचार करते हैं। वह इस प्रकार है—जो उपशामक और क्षपक उत्कृष्ट योग के द्वारा सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में छह कर्मों का बन्ध करता है उसके मोहनीय और आयुर्कर्म को छोड़कर शेष छह कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। जो सब पर्याप्तियों से पर्याप्त है तथा उत्कृष्ट योग से सात कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कर रहा है ऐसा चारों गतियों में स्थित संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि जीव मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध

करता है। आयुर्कर्म के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। मात्र वह आठ कर्मों का बन्ध करनेवाला होना चाहिए।

जघन्य स्वामित्व का विचार इस प्रकार है--जो तद्भवस्थ होने के प्रथम समय में स्थित है और जघन्य योग से जघन्य प्रदेशबन्ध कर रहा है ऐसा सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव आयुर्कर्म को छोड़कर सात कर्मों का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। जो सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव क्षुल्लक भवके तीसरे त्रिभाग के प्रथम समय में जघन्य योग से आयुर्कर्म का जघन्य प्रदेश कर रहा है वह आयु कर्म के जघन्य प्रदेशबन्ध का स्वामी होता है।

यह महाबन्ध में निबद्ध अर्थाधिकारो में से कुछ उपयोगी विषय की संक्षिप्त मीमांसा है। समग्र जैन समाज में जो कर्म साहित्य पाया जाता है वह न केवल इसके एक बूँद के बराबर है, अपि तु इसमें से मुख्य-मुख्य विषय को लेकर ही उसका संग्रह किया गया है। समग्र षट्खण्डागम में जितनी विपुल सामग्री निबद्ध की गई है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उस समय की रचना है जब अंग-पूर्व ज्ञान आनु-पूर्वी से इस भूतल पर विद्यमान था। इसमें बहुतसा ऐसा विषय भी संगृहित है जिस के अन्य साहित्य में दर्शन भी नहीं होते। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित पणवणा में यद्यपि षट्खण्डागम का कुछ अल्प मात्रा में विषय संगृहित अवश्य है और उसकी रचना भी शिथिल है, पर मात्र इसी कारण से षट्खण्डागम की रचना को पणवणा के बाद की घोषित करना सम्प्रदाय व्यामोह ही कहा जायगा। श्वेताम्बर विद्वानों की यह मूल प्रकृति है कि वे श्वेताम्बर परम्परा को दिगम्बर परम्परा से प्राचीन सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार की कुयुक्तियों का सहारा लेते रहते हैं। उनके इस आक्रमण का दायरा बहुत व्यापक है। वे दिगम्बर परम्परा के पुरातत्त्व, साहित्य और इतिहास इन तीनों को अपनी दुरभी सन्धि का लक्ष्य बनाये हुए हैं। उनकी यह प्रकृति नई नहीं है। फिर भी दिगम्बर परम्परा का यह कर्तव्य अवश्य है कि वह इस ओर विशेष ध्यान दें और वस्तु स्वभाव के अनुरूप इस परम्परा के सब अंगों को पुष्ट करें। तभी इस काल के अन्त तक इसके सभी अंगों की उत्तम प्रकार से रक्षा करना सम्भव हो सकेगा। यद्यपि षट्खण्डागम की प्राचीनता आदि पर हमारा विस्तृत लिखने का विचार अवश्य है। और समय आने पर लिखेंगे भी। किन्तु इस समय उसके लिए आवश्यक सामग्री का योग न होने से मात्र इतना संकेत किया है।